

समाज, संस्कृति
और
झारखण्ड

ईश्वरी प्रसाद



डाफ्ट प्रति

समाज, संस्कृति

और

झारखण्ड

ईश्वरी प्रसाद

झारखण्ड झरोखा
राँची, झारखण्ड

ISBN : 978-93-85595-23-3
प्रथम संस्करण : 2019
सर्वाधिकार : लेखक
प्रकाशक : झारखण्ड झरोखा
दुकान नं.- डी. जी. 03
न्यू बिल्डिंग, न्यू मार्केट
रातू रोड, राँची, झारखण्ड
पिन- 834001
फोन. 9471160792

मूल्य : 120.00 रु मात्र

समर्पण

यह पुस्तक
अपने संघर्ष के साथियों,
जिनके साथ हम मिलकर काम करते रहें हैं,
श्रद्धा के साथ
उन्हें समर्पित है।

अनुक्रम

जातियाँ और जातिजन्य पराधीनता (प्रकारांतर और रूपांतर).....
सप्तसैंधवी (ऋग्वैदिक धर्म)
उत्तर वैदिक काल (1000-500 ई०प०).....
बलि-यज्ञ पंथ.....
अद्वैतवाद.....
जातियों का प्रसार.....
मौर्य शासन काल में वर्ण-जाति व्यवस्था.....
मौर्य साम्राज्य के बाद वर्ण-जाति व्यवस्था का पुनर्उत्थान.....
मनुस्मृति में शूद्रों के लिए किये गये विधान का संक्षेप में विवरण.....
ई०सन् की पहली सदी के राज्यों में वर्ण-जाति व्यवस्था.....
गुप्त-साम्राज्य.....
क्षत्रप तथा सातवाहन वंश.....
वाकाटक वंश.....
पल्लववंश तथा सुदूर दक्षिण के राज्य.....
दक्षिण के राज्यों में वर्ण-जाति व्यवस्था का प्रसार.....
ईसवी सन् की प्रथमार्ध में वर्ण-जाति व्यवस्था.....
छठी से सतरहवीं सदियों में वर्ण-जाति व्यवस्था.....
भारत में इस्लाम धर्म का प्रभुत्व.....
मुसलमान शासन काल में वर्ण-जाति व्यवस्था.....
वर्ण जाति-व्यवस्था का चिरायु बने रहने का कारण.....

झारखण्ड में वर्ण जाति-व्यवस्था का प्रसार.....
मुण्डाओं का छोटानागपुर में प्रवेश.....
नागर्वंशियों का झारखण्ड प्रवेश और राज्य का उदय.....
झारखण्ड का समाज, संस्कृति और अस्मिता.....
धर्म, समाज, भाषा और संस्कृति.....
अंगरेजों का “फूट डालो और राज करो” की नीति.....
आजादी के बाद जाति नीति.....
आजादी के पूर्व और बाद के झारखण्ड की राजनीतिक, सामाजिक एवं जातीय स्थिति.....
आजादी के बाद झारखण्ड के लोक-गीतों में नयी धारा का उभार.....
आधार ग्रंथ.....
लेखक परिचय.....

पुरोवाक्

पिछले 52 वर्षों में सैकड़ों राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं एवं गुरुजनों के साथ काम करने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। झारखण्ड का मूल प्राण क्या है, इसकी सांस्कृतिक विरासत क्या है, हमलोगों के बीच हमेशा यह मंथन का विषय रहा है। झारखण्ड में जो नहीं है, उसे देखने और गढ़ने का प्रयास तो नहीं हो रहा है? हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति के अविरल धारा के साथ खिलवाड़ तो नहीं किया जा रहा है और सुनियोजित ढंग से झारखण्डियों की अस्मिता को मिटाने का प्रयास तो नहीं किया जा रहा है? यह हम लोगों के लिए चिन्ता का विषय बना रहा। अपने समाज को समझने और चिन्ताओं के निराकरण के लिए न जाने कितने सेमीनारों, कार्यशालाओं तथा बैठकों का आयोजन किया गया। उन सबों का आकलन करना कठिन है। इसके साथ अनेक लेखों, गीतों, कविताओं, पत्रिकाओं और पुस्तकों का प्रकाशन होते रहा है। आज डॉ० बी० पी० केशरी, डॉ० राम दयाल मुण्डा, प्रफुल्ल कुमार राय, राम सहाय महतो, जगतमनी महतो, भरत नायक, शेख डोमन अली, बालचंद केशरी, ए० के० झा, शेखावत अली, बी० पी० चतुर्धूरी, शारदा प्रसाद शर्मा, चुन्नी लाल नायक, बहादुर मिस्त्री, लाल रणविजय नाथ शाहदेव आदि हमारे बीच नहीं रहे। लेकिन वे अपनी अमूल्य योगदान व कृतियाँ छोड़ गये हैं।

छाया के समान हम एक दूसरे के साथ रहें। उनकी मृत्यु तिथि पर श्रद्धा के सुमन अर्पित कर एवं संवेदना प्रकट कर हम उत्तरण नहीं हो सकते हैं। जीवन-चक्र के समान, समाज में मंथन-चिंतन अविरल रूप से चलता रहता है। पूर्वजों के समान, समाज एवं संस्कृति के प्रति अपने कर्तव्यों का अविरल निर्वहण ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। मेरी यह कृति उन सभी को समर्पित है।

संघर्ष के साथी रहे महाबीर नायक, मुकुन्द नायक, मधु मंसूरी, क्षितीज कुमार राय, दिगेश्वर ठाकुर, बिमल उराँव, डिम्बो पहान, आर. पी. सिंह, रामकुमार नायक, सी० डी० सिंह, डॉ० राम प्रसाद..... को भी आभार।

सामाजिक और सांस्कृतिक कार्यों के निर्वहण के दौरान, मैंने अनुभव किया है कि सामान्य जनता अपनी जीविकोपार्जन के लिए कठोर श्रम में लगे रहने तथा समयाभाव में, जातियों की असामान्य संरचना, समाज-विकास आदि के भौतिक और ऐतिहासिक भूमिका पर शायद ही उचित ध्यान दे पाते हैं। फलस्वरूप परम्परागत रीति-रिवाज, सुनी-सुनाई बातें, किस्सा-कहानियों, रेडियों, दूरदर्शन में प्रसारित समाचार, जुलूस, प्रदर्शन में नेताओं के वक्तव्य आदि, उनके मन-मतिष्क में मुख्य स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इसका परिणाम होता है कि भगवान ने उनके मानस में जो विवेक जैसी अनुपम शक्ति प्रदान किया है, उसका उपयोग करने से ही वे वंचित रह जाते हैं।

वर्ण-व्यवस्था के उद्भव, प्रकार्य और रूपांतरण से जुड़े अनेक सवालों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। इनकी पूर्णरूपेण विवेचना मेरे लिए न तो संभव था और न ही मैं सक्षम हूँ। फिर भी इससे संबंधित विद्वतजनों की अनुपम कृतियों से जितना मैं जान सका उसके आधार पर स्पर्श करने का प्रयास किया हूँ।

झारखण्ड के जन-संरचनाओं, समाज और संस्कृति में आदि काल से बदलाव होते रहा है। इतिहास के इस लम्बे दौर के बदलाव का अध्ययन करना बहुत कठिन है। इस अध्ययन के लिए विषय से संबंधित प्राचीन साहित्यों, इतिहासकारों, सामाजशास्त्रियों, साहित्यकारों के अनुपम शोध-पुस्तकों, अमूल्य रचनाओं का अध्ययन आवश्यक था। अध्ययन से जो मैं समझ सका उसके आधार पर संक्षेप में झारखण्ड के आर्थिक जीवन, समाज और संस्कृति को समझने का प्रयास किया है।

डॉ० गिरिधारी राम गौड़, पूर्व विभागाध्यक्ष, जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा-विभाग, राँची विश्वविद्यालय, के उत्साहवर्धन भरपूर सहयोग से मेरा प्रयास संभव हो सका है, उन्हें मैं हृदय से अपना अभार प्रकट करता हूँ।

मेरे साथी एवं कुरमाली भाषा के विद्वान् डॉ० मानसिंह महतो की प्रेरणा और उनके सहयोग के लिए मैं अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। झारखण्ड झरोखा को पुस्तक के प्रकाशन और वितरण की जिम्मेदारी लेने के लिए दिल से धन्यवाद।

राहुल मेहता, मेरे पुत्र, जिसने मेरे प्रयास ‘डहर’ के यात्रा को भी प्रबंध संपादक के रूप में जारी रखा था, पुस्तक को मूर्त रूप देने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। उसे अपना आंतरिक अनुराग, आशीर्वाद और प्यार के अलावे मैं और क्या हूँ।

इस कृति की सार्थकता इस पर निर्भर करती है, जब सामाजिक, सांस्कृतिक कार्यकर्ता, इस पर गंभीरता पूर्वक विचार करें। आत्म आलोचना और समीक्षा करें। आत्म आलोचना और समालोचना जब सकारात्मक रूप से किया जाता है तो अपनी कमजोरियों और ताकत को समझने में वह सहायक होता है, वह आत्मविश्वास को बढ़ाता है और सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों में रुचि में अप्रत्याशित वृद्धि करता है।

अंत में मैं कहना चाहता हूँ कि यदि इस कृति से किसी भी सामाजिक, सांस्कृतिक या धार्मिक समूहों के व्यक्ति को आधात पहुँचता हो तो मैं क्षमा याचना करता हूँ। इस रचना में अनेक त्रुटियाँ हैं, यह मैं जानता हूँ लेकिन इसके साथ मेरी मजबूरियाँ भी कम नहीं रही हैं। आप सबों को इस कृति को कुछ आशा और कुछ विश्वास के साथ मैं अर्पित करता हूँ।

होली, 2019
21, मार्च 2019

विनीत
ईश्वरी प्रसाद

भूमिका

झारखण्डी संस्कृति के संरक्षकः ईश्वरी प्रसाद

झारखण्ड की प्रकृति जितनी सुंदर है उसकी संस्कृति उतनी ही मधुर और जनजीवन सदान-आदिवासियों का पवित्र संगम है। यहाँ सहिया और मदइत (सहयोग) का अविराम पञ्चरा (झरना) है जो कभी सूखा नहीं। झारखण्ड का अखरा कभी सोया नहीं। यह हर रात जागता है, आधी रात तक। पर्व-त्योहार में अखरा सारी रात जागता रहा है।

जंगल के बीच खेत, खेतों के बीच गाँव और गाँव के बीच अखरा (सांस्कृतिक सामाजिक केन्द्र)। हर गाँव एक दूसरे के रीझ-रंग (संगीतानन्द) में मस्त। पूरा गाँव पता नहीं, किस युग से आदिवासी-सदान हर काम में, हर अखरा संगीत में, हर धर्म-कर्म में, हर संस्कार और संस्कृति में, कड़ी की तरह जुड़े हुए हैं। यहाँ हर नए गाँव में नए लोगों को दोना और कोना देकर बसाते हैं। समता, समरसता, सहयोग, सामूहिकता, सर्वसम्मति, शोषण मुक्त समाज, मेहनत और ईमानदारी, एकता और प्रेम, प्राकृत धर्म, सामूहिक नृत्य संगीत, यही है यहाँ का आदिम साम्यवाद। ऐसा साम्यवाद मार्क्स के साम्यवाद में भी शायद ही मिले, वह भी हजारों- हजार वर्ष से। कहावत है यहाँ- ‘सहिया बइन करेक मदइत, एहे हेके हामर रीत’। यहाँ बड़े होने का अभिमान नहीं है और न छोटे होने का भय। सभी एक दूसरे के पूरक- उत्पादन में, निर्माण में अथवा सेवा में। सुख-शांति, समृद्धि, संगीत प्रियता में और स्वतंत्रता प्रेमी समाज में खतरा मंडराने लगा, एच.ई.सी. बनने पर। बसे-बसाए 11 गाँव उजाड़ दिए गए। 22 गाँवों का जीवन बुरी तरह प्रभावित हुआ। बाहर के लोगों को एच.ई.सी. की कॉलोनी में समस्त सुख-सुविधा से बसाए गए। स्थानीय लोग अपनी भूमि, मकान, मवेशी, खेत-बारी, जतरा-अखरा, हड़गड़ी, मसना, देवी-गुड़ी, महादेव मड़ा आदि संस्कृति से बेदखल कर दिए गए। इन दर-दर भटकते लोगों की सूधी लेने वाला कोई नहीं था। इस बाहरी संस्कृति में झारखण्डी संस्कृति विलीन होती जा रही थी। स्थानीय लोग और उनकी भाषा-संस्कृति तिरस्कार का शिकार थी। वेदना बाहरी लोगों के आगमन से नहीं अपितु स्थानीय लोगों, योग्य कर्मकारों और यहाँ के भाषा-संस्कृति की अनदेखी और उन्हें हेय समझने से थी। कुछ लोग थे जो स्थिति से दुखी और चिंतित थे। पर सब अलग-अलग थे। न कोई सामूहिक आवाज न कोई प्रतिकार का स्वर।

झारखण्ड की विडम्बना से आहत एच.ई.सी. औद्योगिक क्षेत्र के कुछ मजदूरों ने झारखण्ड की संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन के लिए ईश्वरी प्रसाद के अगुवाई में 08 मई 1968 को छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ की स्थापना किया। ईश्वरी जी ने अपने साथियों के साथ मिल कर अपने उपवन में जिस पौधे को लगाया था, सिंचित

किया था, उसे फलने-फूलने में देरी नहीं हुई। जैसे मधुमक्खी के छत्ते में मधुमक्खियाँ चारों ओर से अपना-अपना रस लेकर आतीं हैं वैसे ही झारखण्ड के सांस्कृतिक-सामाजिक कर्मी जुटने लगे। संघ सबों की भागीदारी से कुछ वर्षों में ही झारखण्ड की संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। झारखण्ड की संस्कृति के संरक्षण और संवर्धन के प्रति जुनून, समर्पण और कठोर श्रम के कारण, ईश्वरी जी 1968 से 2002 तक संस्था के शीर्ष पद पर बने रहे और इसे एक अलग पहचान दी।

‘छोटानागपुर की दुर्दशा क्यूँ?’ नामक पुस्तक से प्रारंभ सांस्कृतिक-सामाजिक आंदोलन को ‘डहर’ पत्रिका द्वारा जारी रखा। वे 1982 से 1992 तक डहर के मुख्य संपादक रहे। 1992 में डॉ० विसेश्वर प्रसाद केशरी द्वारा संपादन की जिम्मेदारी लेने के बाद उन्होंने अन्य सांस्कृतिक-सामाजिक आयोजनों में अपना ध्यान केन्द्रित किया। झारखण्ड की संस्कृति से संबंधित अनेक पुस्तकों, पत्रिकाओं, गीत संकलन, के प्रकाशन में इनका महत्वपूर्ण योगदान रहा। नागपुरी भाषा के पहले फीचर फिल्म ‘सोना कर नागपुर’ के निर्माण में भी इनका विशेष योगदान रहा। इसके साथ अन्य पत्रिकाओं एवं समाचार पत्रों में इनके लेख छपते रहे हैं। झारखण्ड की सामाजिक-सांस्कृतिक विकास के लिए इन्होंने नए कलाकारों और साहित्यकारों को न सिर्फ एक मंच प्रदान किया अपितु उनमें सांस्कृतिक जागरण हेतु चेतना का संचार भी किया।

राँची विश्वविद्यालय में 1980 में जनजातिय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग की स्थापना के साथ विभाग के डॉ० राम दयाल मुण्डा, डॉ० विसेश्वर प्रसाद केशरी, डॉ० निर्मल मिंज, डॉ० रोज केरकेट्टा, डॉ० केठी० टूड़ू, डॉ० बासंती कुमारी सहित अनेक कलाकारों और साहित्यकारों ने झारखण्ड नव निर्माण में ईश्वरी प्रसाद जी के प्रयासों को मार्गदर्शन और गति प्रदान किया। इनके सानिध्य में ईश्वरी जी के कार्यों में एक नई उर्जा का संचार हुआ। इन्होंने विस्थापन, झारखण्ड में सांप्रदायिकता सहित अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक मुद्दों पर सेमीनार और अभियान के द्वारा जन-विमर्श को गति प्रदान की। 1997 में कैंसर जैसी बीमारी ने इनके आवेग को कम कर दिया लेकिन इन्होंने हार नहीं मानी और वे अपने प्रयासों को आगे बढ़ाते रहे।

डॉ० राम दयाल मुण्डा और डॉ० विसेश्वर प्रसाद केशरी के निधन के उपरांत वे अकेलापन अनुभव करने लगे। उम्र एवं सेहत की भी चुनौती थी। लेकिन जिस व्यक्ति का अधिकतम जीवनकाल सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कार्यों में बिता था उसके लिए चुप रहना कठिन था। मैंने नजदीक से उनकी बैचैनी को देखा। उनसे कुछ लिखने का मेरा अनुरोध सफल रहा और उन्होंने यह पुस्तक लिखी।

ईश्वरी जी ने इस पुस्तक में ज्ञारखण्ड की समाज-संरचना तथा संस्कृति को ऐतिहासिक घटनाओं एवं भौतिक कारणों से होने वाले परिवर्तन और विकास के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास किया है। अपने स्वभाव के अनुसार, अपने साथियों के साथ अपने विचारों को साझा करने का प्रयास किया है।

भारत में विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्र हैं, उसमें ज्ञारखण्ड का समाज और संस्कृति एक विशेष महत्व रखते हैं। लेकिन जिस प्रकार हिरण अपने नाभी में समाए कस्तुरी की सुगंध की खोज में इधर-उधर भटकते रहता है उसी प्रकार ज्ञारखण्डी अपनी अनुपम संस्कृति को समझने के स्थान पर दूसरों की संस्कृति की ओर ताक-झाँक करते और कभी-कभी उसे अच्छा मान बैठते हैं। इस संवाद को अपने लोगों तक पहुँचाना भी, उनके इस पुस्तक का उद्देश्य है।

ईश्वरी जी ने इस पुस्तक का अंत इन शंकाओं और संदेह से किया है कि “ज्ञारखण्ड की प्रकृति जितनी सुदंर है, उतनी ही इसकी संस्कृति मधुर और पवित्र है। कहीं इसका माधुर्य, सामाजिक-बोध, मनुष्यता की आद्रता कारपोरेट जगत् के हवाले न हो जाए”?

पाठक जिन ग्रंथों एवं शोध पुस्तकों का अध्ययन नहीं कर पाते, उनके प्रारंभिक ज्ञान के लिए यह पुस्तक अनेक जानकारियाँ उपलब्ध कराती है। यदि कुछ त्रुटियाँ या कमियाँ रह भी गई हैं तो, लेखक ने जिस अवस्था में इसे लिखा है, निःसंदेह क्षमा योग्य हैं। इनकी लेखनी चलती रहे।

गिरिधारी राम गौड़ू ‘गिरिराज’

जातियाँ और जातिजन्य पराधीनता (प्रकाशांतर और रूपांतर)

सदियों से दलित जातियाँ हिन्दू धर्म में जातिजन्य पराधीनता की विभीषिका में पिसती रहीं हैं और यह वीभत्सता किसी न किसी रूप में आज भी बनी हुई है। जातिजन्य विभीषिका है क्या? दलित जातियाँ इसे पुरातन ग्रन्थों को पढ़कर या सुनकर जान नहीं सकते थे, क्योंकि पढ़ना और सुनना दोनों उनके लिए वर्जित था। पढ़ने और सुनने पर ब्राह्मण रचित शास्त्रों में कठिन दंड के विधान बनाये गये थे। कुछ वर्षों पूर्व तक उन्हें यही बताया जाता रहा कि “उनका कोई देवता नहीं है। गृहस्वामी ही उनके देवता हैं और उनका चरण पद्मार कर ही उन्हें अपना जीवन निर्वाह करना है।” उनके दिमाग को कल्पनातीत विचारों से विकृत कर तथा राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक दबाव बनाकर सदियों तक जातिजन्य पराधीनता की विभीषिका में पिसते रहने के लिए बाध्य किया गया। यह सर्वमान्य सत्य है कि “भारत की सभी जातियों की उत्पत्ति ‘वर्ण-व्यवस्था’ से हुई है। ऊपर से ‘वर्ण-व्यवस्था’ सामाजिक संस्था प्रतीत होती है। भारत के अनेक विद्वानों, संतों जैसे महान वेदान्ती स्वामी विवेकानन्द का कहना है कि ‘वर्ण-व्यवस्था’ एक सामाजिक संस्था है और इसे सामाजिक संस्था ही बना रहना चाहिए तथा आवश्यकतानुसार इसमें परिवर्तन भी करना चाहिए।” धर्म और अधर्म की चर्चा करते हुए ‘महाभारत’ के शान्ति पर्व (७६.३९) में कहा गया है:-

भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावृभावपि।
कारणादेशकालस्य देशकालः स तादृशः॥

अर्थात् “देश और काल की जस्तियों के अनुसार ही जो उचित है वह अनुचित बन जाता है और अनुचित ही उचित बन सकता है। संस्कृति के इस लगातार बदलाव की प्रक्रिया को रोकना या उसे नकारना या फिर उसे धर्म और भाषा के दायरे में ही सीमित रखने का अर्थ उसे जड़ बनाना होगा।” लेकिन हिन्दू धर्म ने इसे अपनी कुंडली में इस प्रकार लपेटे रखा कि यह व्यवस्था एक प्रमुख धार्मिक संस्था बनकर रह गयी। इसे हिन्दू धर्म का अनुमोदन प्राप्त है, जो हिन्दू धर्म के अस्तित्व का कारण भी है। वर्ण-व्यवस्था भारत में या जहाँ भी हिन्दुओं का निवास है, एक समान विद्यमान है जबकि जाति-व्यवस्था स्थानीय स्तर पर बदलती रहती है। वर्ण प्रकारों के आधार पर विभाजित है लेकिन जातियों का श्रेणीविन्यास ब्राह्मणों के पूर्णतया काल्पनिक सिद्धान्तों पर संगठित है और वर्णों का सोपानीकरण किया गया है।

विगत सदी तक दलित जातियाँ सभी प्रकार के अशक्तताओं को अपने पूर्व जन्मों का कार्यफल मानते रहे। यह भ्रम तब टूटा जब से पुरातन वैदिक ग्रन्थों तथा धार्मिक साहित्यों का आधुनिक अध्ययन शुरू हुआ। इससे वर्ण-जाति व्यवस्था की

असलियत भी उजागर हुई तथा सामान्य पाठकों का ध्यान उस पर गया। धार्मिक साहित्यों का आधुनिक अध्ययन की शुरूआत ईस्ट इंडिया कम्पनी के सर विलियम जोन्स ने भारत में व्यापार और बंगाल में कम्पनी का शासन स्थापित करने में सहायता पहुँचाने के क्रम में किया था। इससे भारत में धार्मिक ग्रन्थों तथा साहित्यों के अध्ययन की स्वस्थ परम्परा की शुरूआत हुई। इसकी शुरूआत के साथ ही दुनियाँ के विभिन्न देशों के इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों, विद्वतजनों में भारत के पुरातन ग्रन्थों तथा धार्मिक साहित्यों के अध्ययन के लिए होड़ मच गई। विगत दो सदियों में भारत के पुरातन धर्म-ग्रन्थों तथा धार्मिक साहित्यों का जितना अध्ययन हुआ, शायद ही दुनियाँ के किसी देश के ग्रन्थों का हुआ हो। सुधार और राष्ट्रीयता के सशक्त प्रेरणाओं से प्रेरित भारत के इतिहासकार, समाजशास्त्री, राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक इस कार्य में पीछे नहीं रहे। इन्होंने अनमोल रचनाओं का सृजन किया जिससे भारत में वर्ण-जाति व्यवस्था को समझने के लिए प्रचुर उपयोगी जानकारी उपलब्ध हुई। उपलब्ध सामग्री के आधार पर निःसन्देह कहा जा सकता है कि 'उच्चतर' जातियों द्वारा निम्नतर जातियों पर शोषण और शासन करने के लिए 'वर्ण-जाति' एक सशक्त व्यवस्था रही है।

सुधार और राष्ट्रीयता की सशक्त प्रेरणा से प्रेरित रचनाओं का भारतीय मानव समाज तथा आधुनिक राष्ट्र के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका है। किन्तु कुछेक को आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार जो कुछ बातें अखंचिकर और कलुषित लगी उनकी या तो उपेक्षा कर दी गयी या उनकी ऐसी व्याख्या की गयी जो युक्तिसंगत नहीं लगती। उदाहरणार्थ, यह कहा गया है कि "अशक्तताओं के कारण शूद्रों के सुख और कल्याण में कोई कमी नहीं आई।" निःसन्देह, इस तरह की व्याख्या से पाठकों में गलत संदेश जाता है, वे भ्रमित होते हैं और सत्य से भी वंचित रह जाते हैं। आज भी देश के लड़ियादी इस सत्य को पचा नहीं पा रहे हैं और भेदभाव वाले समाज के संरक्षण के लिए नित्य नये-नये उपाय ढूँढ़ निकालने में प्रयासरत हैं।

भारत में किन परिस्थितियों में वर्ण-जाति व्यवस्था उदित हुई? कैसे इसका सोपानीकरण किया गया? कैसे उच्चतर जातियों के वर्चस्व को धार्मिक रूप मिला? कैसे अनुत्पादक वर्ग उत्पादक वर्ग का मालिक बन बैठा? कैसे यह व्यवस्था चिरायु बनी हुई है? क्या जातिजन्य पराधीनता की विभीषिका में पिसता दलित समाज अपनी खोयी हुई शक्ति प्राप्त कर सकता है? ये सभी महत्वपूर्ण सवाल हैं, इन सवालों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। इनका पूर्णरूपेण विवेचना, यहाँ न तो संभव है और न मैं सक्षम हूँ। फिर भी जातिजन्य पराधीनता की विभीषिका में पिसते रहने का कटु अनुभव तथा विद्वतजनों के अनुपम कृतियों से जितना जान सका उसके आधार पर इसे स्पर्श करने का प्रयास कर रहा हूँ।

वर्ण-जाति व्यवस्था कब और कैसे उदित हुई? इसके संबंध में उपलब्ध साक्ष्यों के अनुसार कहा जा सकता है कि घुमक्कड़ आर्य चरवाहों के समुदाय में ब्राह्मणीय धर्म के विकास के साथ ही भारत में वर्ण-जाति व्यवस्था उदित हुई। इसको जानने का मुख्य स्रोत आर्यों का ऋग्वेद तथा ईरानियों के ‘अवेस्ता’, हिंद-आर्यों के सबसे पुरातन और प्राचीन पाठ को माना जाता है।

सप्तसैंधवी (ऋग्वैदिक धर्म)

आर्य चरवाहों का भारत में पहला पड़ाव (ई०प० 2200) सिन्धु घाटी में था जिसे आर्य सप्तसैंधव कहते थे। आर्यों के पड़ाव से पूर्व इस महाद्वीप में विभिन्न आर्योंने समुदाय का निवास स्थल था। वे चहारदिवारों से घिरी बस्तियों, किलों/मकानों में रहते थे। पशुपालन तथा खेती उनका मुख्य पेशा था। इतिहासकारों का मानना है कि वैदिक धुमककड़ आर्य चरवाहों के मुकाबले आर्योंने समुदायों का समाज उन्नत अवस्था में था। असभ्य लड़ाकू जर्मनों ने जैसे सभ्य-सुसंस्कृत रोमनों और उनके विशाल साम्राज्य को ईसा की चौथी शताब्दी में परास्त कर दिया, उसी प्रकार आर्यों ने सिन्धु उपत्यका में रहने वाले स्थानीय समुदायों को परास्त कर सिन्धु घाटी में प्रथम पड़ाव डाला। आर्योंने समुदायों के पशुओं तथा अन्य सम्पदा को हासिल करने के लिए आर्यों को आर्योंने समुदाय से सदियों तक युद्ध करना पड़ा। इसकी अधिक सम्भावना है कि यह युद्ध अनवरत नहीं लड़ी गयी होगी और अन्तराल में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में लड़ी गयी हो। आर्यों की मानसिकता में पशु ही धन-सम्पदा थे। धन-सम्पदा के अतिरिक्त उनकी मानसिकता में किसी का महत्व था तो, वह था आर्यरक्त की शुद्धता एवं श्रेष्ठता। इसी से वे ऋत-धाराओं से भिन्न आर्योंने जनजातियों से घृणा करते थे और उन्हें तिरस्कार की भावना से देखते थे। लूट से पशुधन हासिल करने के लिए विशिष्ट नेतृत्व व गुण की आवश्यकता होती है, वे सभी गुण आर्य पशु-चारकों में मौजूद थे। ऋग्वैदिक पशुचरवाहों के समाज का संगठन भी उसी के अनुरूप था। आर्य जनजातियों का प्रत्येक समूह अपने-अपने युद्ध सरदारों का चयन करता था। समूह सरदारों के नेतृत्व में युद्ध में भाग लेते थे। फौजी ऋग्वैदिक परम्परा का नेतृत्व इन्द्र करते थे। ऋक् संहिता के लगभग 1028 ऋचाओं में चौथाई से अधिक इन्द्र को समर्पित हैं। इन्द्र, मुख्य युद्ध देवता के रूप में सम्पूर्ण ‘मवेशी चक्र’ का अभिन्न अंग था। मवेशियों को खदेड़ कर लूटने के चक्र का केन्द्र बिन्दु भी इन्द्र ही था। वायु एवं मारुत जैसे गौण देवों के सहयोग से इन्द्र तूफानी वेग से शत्रु के खेमे में जाकर पशुधन लूटता था। पशु-सम्पदा हासिल करने के लिए इन्द्र ने पणि, विश्वरूप, उरण, अशन, शंबर आदि शत्रुओं से युद्ध किया। आर्योंने समुदायों की बस्तियों को ध्वस्त करने, आग लगा कर भस्म करने, पशुधन के साथ अन्य धन सम्पदा को लूटने, पुरुषों की नृशंस हत्या करने, औरतों को बंदी बनाने के लिए विजयी दल के नेता ‘इन्द्र’ को वेदों में पुरन्दर कहा गया है।

इन्द्र के नेतृत्व में लड़े गये युद्धों में आर्य जनजातियों के अतिरिक्त पशुओं में जंगी घोड़ों तथा पुरोहितों का भी महत्वपूर्ण योगदान था। जंगी घोड़ों की एक इकाई होती थी जिसमें देवत्व प्रदान किये हुए घोड़े होते थे। दैविक घोड़ों में दधिक्रा, ताक्ष्य, पैदव् प्रमुख थे। ये ऐसे घोड़े थे जो शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में प्रमुख भूमिका निभाते थे। वे देवत्व प्रदत्त योद्धाओं के रथों को गति प्रदान करते थे।

उशिज, मित्र, आदित्य, त्वष्ट्र आदि ऐसे अनेक आकाशीय अधीश्वरों की कल्पना की गयी थी जो ‘पुरोहित-चक्र’ के देवताओं के प्रतिनिधि थे। उशिज एक ऐसा पुरोहित था जो मवेशियों पर धावा बोल कर उन्हें लूटने में सहायता करता था। मवेशी संपदा रूपी संपत्ति प्राप्त करने तथा देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए पुरोहितों द्वारा ‘मवेशी बलि’ का मिथक बनाया गया था। विजयोपरान्त पशुओं की बलि देकर देवताओं को सन्तुष्ट किया जाता था तदुपरान्त सामूहिक तौर पर मांस-भक्षण और सोमपान किया जाता था। ऋक्-संहिता में एक उत्सव का उल्लेख है जिसमें 300 भैसों की बलि दी गयी थी। बलि के लिए बाँझ गायों, बछड़ों, घोड़ों को अलग करके रखा जाता था।

इन्द्र के नेतृत्व में ऋग्वैदिक योद्धाओं द्वारा अपने विस्तार के पहले दौर में आर्येत्तर जनजातियों के निवास स्थल को इस प्रकार नष्ट किया गया तथा पुरुषों की हत्या की गयी कि तात्कालिक उत्तर पश्चिम भारत में कुछ ही लोग बचे होंगे। वही बचे होंगे जिन्होंने भाग कर दूर-दराज में शरण लिया होगा या वे स्त्रियाँ तथा पुरुष जो बन्दी बनाये गये होंगे। इस दौर में भौतिक समृद्धि से प्रेरित उत्सवों, यज्ञों तथा धार्मिक अनुष्ठानों में जहाँ एक और अत्याधिक वृद्धि हुई वहीं दूसरी ओर संपत्ति की सामूहिकता और उसके न्यायोचित तथा समतावादी वितरण के पतन से ऋक् संहिता के दृष्टाओं को आंसू बहाते देखा गया। लेकिन आर्येत्तर जनजाति के व्यापक विनाश पर किसी प्रकार के अपराधबोध और न ही उससे मुक्त होने की किसी चर्चा का उल्लेख मिलता है।

प्रारम्भ में आर्य पशु-चरवाहों का समाज बहुत ही सरल और जनजातीय समाज था। कालान्तर में आर्येत्तर जनजातीय समुदायों के साथ युद्ध के कारण या ऋग्वैदिक समाज में ऋत के पतन के कारण, आर्य जनजातियों में निजी स्वार्थ, ईर्ष्या और लूट की भावनाओं ने घर कर लिया। लूट के अधिकांश अंश लोग अपने पास रखने लगे। कुछ आर्यों में तो अपने बांधवों का गला दबा कर सम्पत्ति इकट्ठा करने की प्रवृत्ति भी नजर आने लगी। इन सभी से समाज में आर्थिक तथा सामाजिक विषमता का जन्म हुआ जो परवर्ती काल में वर्ण-जाति व्यवस्था के उदय का आधार बना। विशेषकर पुरोहित और सरदार अपने विशिष्ट गुणों एवं नेतृत्व के लिए अधिक सम्मान के भागीदार बने तथा ओहदे के आधार पर समाज का स्तरीकरण हुआ और ऋग्वैदिक समाज विधित हो कर समतावादी नहीं रह गया। इन सबों के बावजूद ऋग्वैदिक समाज में उत्पादकों और उपभोक्ताओं में स्पष्ट विभाजन नहीं था। आर्य कबीले के सभी सदस्य उत्पादक और उपभोक्ता दोनों थे। ऋक्-संहिता के दशम मंडल में पुरुष सूक्त में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति का चित्रण मिलता है। सूक्त में उल्लेखित वर्ण-व्यवस्था का उदय परवर्ती विकास है। लेकिन इस तथ्य को नकारा नहीं जा सकता है कि वर्ण-व्यवस्था ओहदेदारों के बीच एक प्रमुख विचारणीय विषय था।

उत्तर वैदिक काल (1000-500 ई०प०)

उत्तर वैदिक काल में आर्यों का मुख्य बसेरा कुरु पंचाल तथा यमुना-रामगंगा का मैदानी क्षेत्र था। उस समय मैदानी क्षेत्र में मुख्यतः चार समुदायों का निवास था -

१. आर्येतर जनजातीय समुदाय, जैस द्रविड़, मुण्डा, असुर, भील आदि,
२. ब्राह्मणानुयायी आर्य,
३. अवैदिक आर्य
४. अवैदिक और न आर्येतर जनजातियाँ जैसे- चीन, दरद, पल्लवन, यवन, खस आदि।

उत्तर वैदिक काल के धर्म, समाज, संस्कृति तथा आर्थिक एवं राजनीतिक गतिविधियों को जानने का मुख्य स्रोत उत्तर वैदिक साहित्य हैं जो अधिकांश कुरु-पंचाल में रचे गये थे, जिसकी संख्या दो सौ से अधिक है। प्रायः रचनायें कथनात्मक परंपरा में रचे गये जो किसी प्रकार के पुरातात्त्विक साक्ष्यों से पोषित नहीं हैं। इन विशद् साहित्य का अध्ययन साधारण व्यक्ति के बल-बूते के बाहर है। फिर भी इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों तथा विद्वतजनों द्वारा शोध पुस्तकों, लेखों के द्वारा काफी उपयोगी जानकारियाँ मिलती हैं। इनके आधार पर कहा जा सकता है कि सप्तसैंधवी सामाजिक तथा धार्मिक जीवन की भाँति मैदानी क्षेत्र के लोगों की धार्मिक, आस्थाएँ, सामाजिक परम्परायें तथा गतिविधियाँ भी भौतिक पृष्ठभूमि से कम प्रभावित नहीं थी। फलस्वरूप सामाजिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक क्षेत्रों में एक ढाँचे का अविभाव हुआ जिसकी मुख्य विशेषता थी- कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था, कबायली संरचना में दरार पड़ना, समाज में वर्ण-व्यवस्था के जन्म के साथ उत्पादकों और उपभोक्ताओं का स्तरीकरण तथा क्षेत्रगत सम्प्रदायों का उदय।

आर्य पशु-चारकों ने मैदानी क्षेत्र में जैसे पशु पालन के साथ कृषि-कार्य शुरू किया उनके जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन जो उनके जीवन में देखा गया, वह था घुमक्कड़ जीवन अब स्थायी जीवन में बदल गया था। इसके साथ अन्य परिवर्तन होना स्वाभाविक था। आर्य जो ऋग्वैदिक काल में आर्येतर जनसमुदायों पर हमला कर पशुओं को लूटने तथा उनकी बस्तियों को जलाने, स्त्रियों को बंधक बनाने और पुरुषों का नृशंस हत्या को प्राथमिकता देते थे अब वे पुरुषों की हत्या के बजाय उन्हें बंदी बनाने, खेतों पर कब्जा करने तथा बंदी बनाये गये लोगों से कृषि-कार्य लेने लगें। लौह तथा अन्य धातुओं से कृषि में उपयोग होने वाले औजारों के आविष्कार से कृषि उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। फलस्वरूप आर्य समुदाय में स्तरीकरण आरंभ हुआ। कुछ कृषक अपने निर्वाह से अधिक उत्पादन कर रहे थे,

उनका बड़े जोतदार या धनी किसान में गिनती होने लगी। उसी प्रकार कुछ मझोले तो कुछ साधारण स्तर के किसान थे। आर्य कबीलाई समाज अब निःसंदेह ऋग्वैदिक कबीलाई समाज की तरह समतावादी नहीं रह गया था। ब्राह्मण और क्षत्रिय, कृषि या शिल्प जैसे किसी कार्य में नहीं लगे होने के बावजूद वैदिक आर्यों के बीच प्रमुख विशेष ओहदा प्राप्त करने में सफल रहे थे और वे उत्पादन के नियंत्रकर्ता भी थे।

कबायली समाज में विघटन का परिणाम राजनीतिक संरचनाओं में भी दृष्टिगोचर हुआ। ऋग्वैदिक समाज विघटित हो कर छोटे-छोटे क्षेत्रीय गण/परिषदों में बँट गये। गण/परिषद समितियों का बोलबाला केवल वैदिक आर्यों के क्षेत्र तक सीमित नहीं था बल्कि बाहर रहने वाले समुदायों में भी इसका बोलबाला था।

बलि-यज्ञ पंथ

ऋग्वैदिक धर्म में सर्वप्रथम तत्व प्रकृति संबंधित अनेकानेक आराध्यों की कल्पनाओं को भूल कर जिस प्रकार बलि-पंथी तथा अद्वैतवाद धारा के विचारों का प्रतिवादन किया गया था उससे वर्ण-जाति व्यवस्था उदित हुई। इसका पूर्ण रूप से अर्थ समझने के लिए जिज्ञासुओं को इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिए। यहाँ सारांश के रूप में यथा-संभव चर्चा की गई है।

ब्राह्मण बलि-यज्ञ पंथ विचार के उन्नायक थे। ऐसी बात नहीं है कि पशु-बलि प्रथा ब्राह्मणों ने शुरू किया। पशु-बलि प्रथा अति प्राचीन काल से चली आ रही थी। पशु-बलि की प्रथा का ईरानियों के प्राचीन धर्म ग्रन्थ ‘अवेस्ता’ में उल्लेख है। वास्तव में यह मानव जाति के प्राचीन विश्वासों में से एक है कि- “मनुष्य जो कुछ स्वयं खाता है वही उसे अपने देवी, देवता व अतिथि को भी अर्पित करना चाहिए और जो कुछ अर्पित किया जाता है उसे पूजकों को सामूहिक रूप से ग्रहण करना चाहिए।” ऋक्-संहिता में उल्लेखित है कि ‘गाय, बैल और गाय के बछड़ों की बलि अग्नि को दी जाती थी (ऋग्वेद ११.५)। ऋक् वैदिक काल में यज्ञ-अनुष्ठानों के मुख्य प्रयोजन पशु-धन, पशु-चारकों के संवृद्धि से संबंधित था।

उत्तर वैदिक काल में बलि यज्ञ-पंथ का उन्नायक ब्राह्मणों को कहा गया क्योंकि वे अपने पूरे दम-खंड से अपने निहित स्वार्थों की रक्षा के लिए दोआब-गंगा धाटी के धार्मिक स्थलों और मान्यताओं को निश्चित दिशा देने और सुनियोजित विचार-तंत्र को ढालने में सक्रिय थे। इसके पीछे उनका मुख्य उद्देश्य समाज के हर वर्ग में अपनी श्रेष्ठता कायम करना तथा कृषिगत अधिशेष को प्राप्त करना था।

उत्तर वैदिक काल में हर सामाजिक या वैयक्तिक कार्य किसी न किसी धार्मिक अनुष्ठानों से जुड़ा हुआ था। इन अनुष्ठानों में बहुधा सामाजिक विभेदों का ध्यान रखा जाता था। ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों का विकास तो इन्हीं आयोजनों में प्रयुक्त होने वाले रहस्यमय सूत्रों की विधान संबंधी व्याख्याओं के लिए हुआ। बलि-यज्ञों के लिए पवित्रता का प्रभामंडल गढ़ा गया। संपत्ति का उपयोग बलि के कर्म-कांड में केन्द्रित हो गया। संपत्ति का संबंध ओहदे की अवधारणा से भी बंधा था। एक स्तर पर कर्मकाण्डों का आयोजन धार्मिक अभिव्यक्ति था तो दूसरे स्तर पर यजमान के ऊँचे ओहदे का वक्तव्य और तीसरे स्तर पर संपत्ति एवं साधनों का प्रदर्शन। इन आयोजनों से वर्ण-व्यवस्था में बड़े कबीलों को उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था में आत्मसात करने का प्रयास किया जाता था।

इन अनुष्ठानों से ब्राह्मणों ने अपने मुख्य संरक्षक शासकों एवं राजाओं पर भी अपनी सामाजिक श्रेष्ठता स्थापित करने के साधनों को अपने हाथों लेने का भरसक प्रयास किया। “बलि-यज्ञ का विकास जिस दिशा में हुआ वह सामाजिक संसार से ऊपर या उसके बाहर नहीं था। यह अप्रसांगिक भी नहीं था। वस्तुतः यह तो ऐसी कार्यशाला थी जहाँ ब्राह्मणों ने विशेषाधिकार संपन्न सोपानात्मक व्यवस्था को रूप प्रदान किया।” ब्राह्मणों की सर्वोच्चता और क्षत्रियों को गौण अथवा कमज़ोर स्थान दिखाने के लिए अनेक विधि-विधान और प्रतीकात्मक कर्मकांडों की संरचना की गयी। शायद ऐसा क्षत्रिय द्वारा शासित सामाजिक एवं राजनीतिक संसार में अपनी श्रेष्ठता का दावा स्थापित करने के लिए किया गया हो। एतरेय ब्राह्मण में कहा गया है- ब्राह्मण के हथियार बलि-यज्ञ आदि हैं, क्षत्रिय के हथियार अश्व-रथ, कवच, धनुष एवं तीर हैं। सतपथ ब्राह्मणों तथा अन्य धार्मिक साहित्यों में अनेक बलि-यज्ञों का विस्तृत वर्णन मिलता है जैसे- अग्रयन इष्टि, अरि इष्टि, ततुर्मस्य, अग्निष्टोक, सोम यज्ञ, अग्निचयन, अश्वमेघ, राजसूय, बाजपेय आदि।

सब यज्ञों में सबसे महत्वपूर्ण और जटिल अश्वमेघ था। तीन दिनों के मुख्य आयोजन वाला यह यज्ञ साल भर चलता था। इसकी तैयारी लम्बे समय से चलती थी। इसमें राजा, उसकी सभी रानियाँ, अनुष्ठानकर्ता, 400 परिचर तथा बड़ी संख्या में दर्शक भी भाग लेते थे। विशेष रूप में अभिषिक्त एक घोड़ा गमनया ढंग से मुक्त विचरण के लिए छोड़ दिया जाता था। उसके पीछे 400 चुनिंदा योद्धाओं का एक दल चलता था ताकि कोई राजा उस घोड़े को पकड़े तो उसे मुक्त कराने के लिए वे उससे युद्ध कर सके। घोड़े को वर्ष के अंत में वापस लाया जाता था और 600 सांड़ों के साथ उसकी बलि चढ़ा दी जाती थी। अश्वमेघ में संपूर्ण आयोजन की चरम सीमा उस समय होती थी जब पुरोहित और महिषी (पटरानी) का रस्मी संसर्ग होता था और स्वयं महिषी एक आवरण के अन्दर मृत अश्व के साथ मिलती थी। इसके बाद राजा की

अन्य पत्नियाँ तथा उनके साथ सब सांड़ों का चककर लगाते थे और महिली अर्थात् पटरानी उसके बगल में इस तरह लेट जाती थीं जैसे उससे वह सहवास कर रही हो।

समारोह का समापन 21 बंध्या गायों की बलि और ब्राह्मणों में बिपुल दान-दक्षिणा के वितरण के साथ होता था। लेकिन सभी पुरोहित इतना सौभाग्यशाली नहीं होते थे कि उन्हें भरपूर दान मिलता। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हम ब्राह्मण बामदेव को अपनी निर्धनता का रोना देखते हैं “अत्यन्त कठिन परस्थिति में पड़कर भोजन के लिए कुत्ते की अंतङ्गिया पकाई, किसी देवता से मुझे संरक्षण नहीं मिला, मैं अपनी पत्नी को पतिता अवस्था में देखा।” इस एक ब्राह्मण को इस बात की प्रार्थना करते हुए देखते हैं कि राजा द्वारा अपहृत उसकी पत्नी लौटा दी जाये। इस प्रक्रिया की व्याख्या कृषि-कर्म के संदर्भ में की जाती है।

अश्वमेघ यज्ञ सहित कुछ अन्य यज्ञों के निहित उद्देश्यों में प्रमुख विचारणीय हैं -

- (क) पस्त प्रजनन शक्ति को पुनः जाग्रत करना
- (ख) युद्ध में मारे गये लोगों के लिए प्रायश्चित करना
- (ग) संतान प्राप्ति।

बृहदारण्यक उपनिषद् के लिए अवतरण भी प्रासंगिक है- “ओ गौतम नारी निश्चय ही यज्ञग्नि है। इस संदर्भ में लिंग ईधन है, जो निमंत्रण पर उत्तेजित होता है, योनि लपट है; आत्मसात होना कोयला और संसर्ग का आनंद चिनगारी है। इस अग्नि में देवता वीर्य प्रदान करते हैं। इस तर्पण से गर्भ उत्पन्न होता है...।

बलि-यज्ञ उर्वरता अथवा प्रजननशीलता, विजयी गाय, घोड़ों, मवेशियों, रथ आदि रूप में आकंने वाली संपत्ति और सामान्य खुशहाली के लिए की जानेवाली प्रार्थनाएँ थीं। यज्ञों एवं प्रतिकों को ढूढ़ने की प्रक्रिया में काफी बौद्धिक पटुता का सहारा लिया गया होगा। किन्तु कुल मिलाकर यह अत्यन्त नीरस एवं निस्सार गतिविधि लगती है। इन यज्ञों के आयोजन के पीछे मुख्य राजनीतिक तथा आर्थिक उद्देश्य छिपे हुए थे। इसमें भी ब्राह्मणों का उद्देश्य सभी वर्गों में अपनी श्रेष्ठता और कृषिगत अधिशेष को प्राप्त करना था।

अद्वैतवाद

ऋग्वेद के नासदी सूक्त और यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में उल्लेखित है -

“उस समय न सत् था और न अ सत्।
न अन्तरिक्ष था न उसके परे व्योम था।
किसने सबको ढँका था? और कहाँ? और किसके द्वारा रक्षित?
क्या वहाँ पानी अथवा हवा थी?.....॥१॥

तब न मृत्यु थी न अमर मौजूद;
सत् और दिन में वहाँ भेद न था।
वहाँ एक एकाकी स्वावलंबी शक्ति से श्वसित था
उसके अतिरिक्त न कोई था न उसके ऊपर।.....॥२॥

अंधकार वहाँ आदि में अँधेरे में छिपा था;
विश्व भेदशून्य जल था।
वह जो शून्य और खाली में छिपा बैठा है।
वही एक (अपनी) शक्ति से विकसित था।.....॥३॥

तब सबसे पहली बार कामना उत्पन्न हुई;
जो कि अपने भीतर मन का प्रारंभिक बीज थी।
और ऋषियों ने अपने हृदय में खोजते हुए,
अ-सत् में सत् के योजक संबंध को खोज पाया।.....॥४॥

वह मूल स्रोत जिससे यह विश्व उत्पन्न हुआ,
और क्या वह बनाया गया या अकृत था
(इसे) वही जानता या नहीं जानता है; जो कि उच्चतम द्यौलोक से
शासन करता है, जो सर्वदर्शी स्वामी है।”.....॥५॥

ऋग्वेद के जिन प्रश्नों के उत्तर उपनिषदों में मिलते हैं उन प्रश्नों और उपनिषदों की विवेचना करना इस लेख का विषय नहीं। फिर भी इस विषय पर इसलिए चर्चा की गयी है, कि छान्दोग्य उपनिषद् में अद्वैतवाद के साथ कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है जो वर्ण-जाति के जन्म तथा स्थायित्व का मुख्य कारण है। यहाँ ‘कर्म’ के सिद्धांतों से संबंधित विचारों पर चर्चा महत्वपूर्ण है। ‘छान्दोग्य’ उपनिषद् अकार में ही नहीं, बल्कि दार्शनिक विचारों के लिए भी महत्व रखती है। उपनिषदीय विचारधारा निम्नलिखित तत्त्वों पर टिकी हुई है -

1. ब्राह्मण, 2. आत्मन 3. अद्वैतवाद।

यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'ब्राह्मण' शब्द का प्रयोग पवित्र मंत्र की जादुई शक्ति के लिए किया गया है। लेकिन उपनिषदों में इसका अर्थ पूरी तरह से अलग है। उपनिषद् के आधार पर सभी जीवों, प्राणियों, देवी-देवताओं और संपूर्ण सृष्टि की सभी रचनाओं में समाहित और उनके पार का आधार है-'ब्राह्मण' ब्राह्मण की मानवीय आत्मा, जिसे आत्मन् कहा गया है।

इनके अतिरिक्त कर्म के सिद्धान्त, एक यांत्रिकी रूप में आत्मन् का पुनर्जन्म का उल्लेख किया गया है। प्राचीन साहित्य के अनुसार जब वैदिक कर्मकांड से लोगों का विश्वास घटता जा रहा था, छान्दोग्य के ऋषि राजा और ब्राह्मण आखणि ने एक नया रास्ता ढूँढ निकाला और बताया कि पुनर्जन्म परलोक में ही नहीं इस लोक में कर्मानुसार प्राणी जन्म लेता है। 'कर्म के माध्यम से ही जीव सांसारिक चक्र से मुक्ति पा सकता है। ब्राह्मण और आत्मन् के अद्वैतवाद का अज्ञान ही उसे सांसारिक दलदल में धकेल देता है। वर्तमान जीवन में किये गए कर्म ही उसके भावी अस्तित्व के उत्तार-चढ़ाव के निर्धारक होते हैं। पुनर्जन्म का सिद्धान्त के पीछे यह विश्वास होता है कि आत्मा एक जीव से दूसरे जीव अथवा एक जीवन से दूसरे जीवन में निरन्तर आती-जाती रहती है।' शायद उस वक्त प्रथम प्रचारकों ने नहीं सोचा होगा जिस सिद्धान्त का वे प्रचार कर रहे थे, वह आगे कितना खतरनाक साबित होगा और वह परिस्थिति के अनुसार बदलने की क्षमता रखनेवाली शक्तियों को कुठित कर, समाज को प्रवाहशून्य नदी का गंदला पानी बनाकर छोड़ेगा। इसका अभिप्राय यही है कि सामाजिक विषमता ने जो मानव समाज में उत्पादक वर्ग को एक प्रकार से गुलाम बना रखा है, उसके लिए किसी प्रकार का संघर्ष न करो। आज के दुखों को भूल जाओ। उपनिषद् में यह बताया गया है कि "सामाजिक विषमताएँ न्याय हैं, क्योंकि पिछले जन्म के दुष्कर्म के अनुसार संसार ऐसा बना है। इस विषमता के बिना मनुष्य अपने आज के कष्टों का फल नहीं पा सकता। पुनर्जन्म के संबंध में यह सर्वपुरातन वाक्य है।"

वास्तव में यह बौद्धिक वर्ग का शब्दजाल है और उस समय दोआब एवं गंगा धाटी में जो भौतिक एवं आर्थिक कारणों से परिवर्तन हो रहे थे, उसे नजरअंदाज कर के क्षत्रिय ज्ञान के दाँव-पेंच हासिल कर ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के दावों की जड़ों में आधात करना और कर्म के सिद्धान्त के द्वारा उत्पादकों पर नियंत्रण करना था। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन क्षत्रियों द्वारा ऐसे क्षेत्र में हुआ था जहाँ पूर्ण रूप से ब्राह्मणीकरण नहीं हुआ था और जिसे म्लेक्ष-देश अर्थात् अपवित्र क्षेत्र कहा जाता था। तत्कालीन सदियों के कुछ प्रमुख राजा, जैसे कोशल नरेश हिरण्यनाभ, पंचालों के प्रवाहण जैबाली, विदेह के जनक, कैकेय के अश्वपति तथा काशी के अजातशत्रु खुतेआम कर्म के सिद्धान्त के प्रवर्तक थे या उसे संरक्षण प्रदान कर रहे थे। इसे नवीन ज्ञान भी कहा जाता था। इसका प्रचार बहुत सोच-समझ कर खास लोगों तक किया जाता था। इसे आम-लोगों से छिपा कर रखा जाता था। नवीन ज्ञान के अभिन्न अंग

के रूप में कर्म-सिद्धान्त वह सूक्ष्म यंत्र था जिससे उत्पादक शक्तियों को नियंत्रण में रखा गया। कर्म के सही या गलत होने का फैसला करने की शक्ति अथवा कर्म के सही, अच्छा या बुरा बताने का अधिकार अपने हाथों में रखकर क्षत्रियों ने अधिशेष उत्पादकों पर अपनी पकड़ बनाए रखी। उत्पादक यदि अपने निर्धारित काम से भटकने की कोशिश करते तो उसे सही मार्ग से विषय होना कहा जाता था।

कुल मिलाकर बलि-यज्ञ प्रथा और क्षत्रिय विद्या का उद्देश्य का सार एक दूसरे से भिन्न नहीं था। दोनों ही अन्यायपूर्ण और शोषक वर्ण-व्यवस्था को स्थायी बनाए रखना चाहते थे।

वैदिक काल के सारांश के रूप में कहा जा सकता है कि यास्क कृत निखृत जिसकी रचना ऋग् सहिता की समाप्ति के लगभग 500 वर्षों बाद ई०प० 500 में हुई मानी जाती है, को पढ़ने से लगता है कि मात्र 500 वर्षों के अंतराल में ही समाज के शिक्षित वर्ग ने भी अनेक वैदिक अभिव्यक्तियों का अर्थ भुला दिया था।

वैदिक काल के दो ओहदेदार समूह ब्राह्मण और क्षत्रिय, समाज में अपनी श्रेष्ठता और उत्पादकों पर अपनी श्रेष्ठता तथा कृषि अधिशेष का अधिक से अधिक हिस्सा प्राप्त करने के उद्देश्य से वर्ण-जाति व्यवस्था को जन्म देने के लिए प्रयत्नशील थे। बलि यज्ञ पंथ तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों का ब्राह्मणों ने जिस प्रकार विकास किया था, वस्तुतः वह एक कार्यशाला था, जहाँ से वर्ण-जाति व्यवस्था को जन्म दिया गया। वैदिक समाज में पुरोहितों के समूहों ने ही सबसे पहले वंशात जन्मजात वर्ग का रूप लिया और कर्मकाण्ड पर अपनी विशेषज्ञता तथा एकाधिकार के बल पर शीर्षस्थ होने का दावा किया। विप्र, ऋषि, पुरोहित तथा ब्राह्मण इन चार महत्वपूर्ण शब्दों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन करने वाली एक कृति का निष्कर्ष है कि पुरोहितों का वर्ग पुरोहिताई के कार्यात्मक धारणाओं से ऋग्वैदिक काल में क्रमिक रूप से विकसित होकर और वैदिक काल में एक बंद वर्ग बन पाता है जिसे ब्राह्मण वर्ग के रूप में जाना जाता है। क्षत्रिय वर्ग का विकास असुर, मधवन, सूरि और राजन शब्दों, जिनका अर्थ होता है शक्तिशाली लोग या वीर से बना हुआ। कालान्तर में छत्र या क्षत्रिय शब्द, शासित क्षेत्र पर शासक सत्ता या नियंत्रण का द्योतक बना। श्रेष्ठता और सत्ता हासिल करने के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय में जितना विरोध था उनकी राजनीतिक मित्रता उतनी ही गहरी थी। इसका सर्वोत्तम उदाहरण वैदिक काल में देखा जा सकता है। ब्राह्मण जब अपनी बलि-यज्ञ पंथी धारा और क्षत्रिय अपनी ‘अद्वैतवाद’ नवीन धारा से एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयत्नों में कोई कसर नहीं छोड़ते दिखाई देते हैं वहीं जब उन्हें समझ में आया कि बलि-यज्ञ पंथ को चुनौती दी जा सकती, तो शक्ति एवं ओहदे के लिए ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के परस्पर सहारे को भी भेदा जा सकता है तो ब्राह्मणों को क्षत्रियों के अद्वैतवाद के कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करने में कोई हिचक नहीं हुई।

ब्राह्मणों और क्षत्रिय दोनों ने इस विचार पर हमेशा के लिए पर्दा डाल दिया कि “ब्राह्मण की उत्पत्ति आदि मानव (ब्रह्मा) के मुँह से, क्षत्रिय की उनकी भुजाओं से, वैश्य की उनकी जांघों से और शूद्र की उनके पैरों से हुई थी।” क्योंकि इससे स्पष्ट होता था शूद्र और तीन अन्य वर्ण एक वंश के थे और समता की माँग प्रबल शक्ति से उठने लगी थी। इसलिए ब्राह्मण और क्षत्रिय बड़ी पटुता से कर्म के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बताया कि ब्राह्मण का जन्म ब्राह्मण से, क्षत्रिय का जन्म क्षत्रिय से और शूद्र का जन्म शूद्र से होता है।

ब्राह्मण और क्षत्रिय का आर्य समुदाय से पृथकीकरण के बाद बचे विश्व-आर्यजनों के बीच विभेदीकरण किया गया। विभेदीकरण के संबंध में पहले बतलाया जा चुका है कि वैदिक काल में हर सामाजिक या वैयक्तिक कार्य किसी उपयुक्त अनुष्ठान से जुड़ा हुआ था जिसमें सामाजिक विभेदों का ध्यान रखा जाता था। जो कृषिकार्य में जुड़े हुए थे, ज्ञानों तथा अन्य धार्मिक अनुष्ठानों में अन्न तथा अन्य सामग्री प्रदान करते थे, उन्हें वैश्य मान लिया गया। बाकी बचे शिल्पीकार तथा अन्य कार्य करनेवालों जिनका कोई देवता नहीं था उन्हें शूद्र दर्जा में डाल देने के लिए नीतियाँ निर्धारित की गयी। पराजित आर्येतर जातियाँ जिन्हें बन्दी बनाया गया था, उनका कोई भगवान नहीं होने के कारण उन्हें शूद्र में रखे जाने का विचार तो पूर्व का था। इस प्रकार आर्य समुदाय के वे लोग जिन्होंने वैदिक ब्राह्मणीय धर्म को अभी तक स्वीकार नहीं किया था उन्हें भी शूद्र माना गया। इस प्रकार बन्दी बनाये गये आर्येतर जातियाँ और आर्य जिन्होंने ब्राह्मणीय धर्म को स्वीकार नहीं किया था उनको लेकर ‘शूद्र’ वर्ण का जन्म हुआ। यजुर्वेद के संहिताओं, प्रस्तुत सूची में रथकारों, कूलालों (कुंभकारों), कर्मारों, पुंजिष्टों, मछुओं या बहेलियों, शवनियों और मृगयों (शिकारियों) के नाम हैं। इसके अतिरिक्त तैत्तिरीय संहिता और धनुर्धारों और इसकरों का वर्णन किया गया है जो धनुष और तीर के निर्माता कहे जाते थे। शूद्र के भी अपने देवी-देवता थे। ब्राह्मणों का यह मानना कि उनका कोई धर्म और न देवता था वास्तविक स्थिति का चित्रण नहीं करता। इस प्रकार वर्ण की उत्पत्ति और उसका सोपानीकरण किया गया।

वर्तमान में भारत के विभिन्न क्षेत्रों में जातियाँ जिस रूप में विद्यमान हैं, उसका कारण जानने के लिए वर्ण की अवधारणा अपर्याप्त है। जाति की उत्पत्ति के संबंध में धार्मिक सिद्धान्त में जितनी सहमति दिखाई देती है उतनी ही ऐतिहासिक उत्पत्ति के संबंध में कई सिद्धान्त हैं जिनमें प्रमुख हैं- सोपान-व्यवस्था, वंशानुगत पेशेवर विशेषज्ञता, अंतर्जातीय विवाह, पितृसत्तात्मक व्यवस्था, वर्ण विभाजनों और राज्य के उदय, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, स्त्रियों की पराधीनता, शौच-अशौच का सिद्धान्त, ब्रात्य का सिद्धान्त आदि।

जातियों का प्रसार

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार वर्ण-व्यवस्था के अन्दर जातियों का विकास ई० सन् के प्रारम्भ से कुछ सदियों पूर्व हुआ। आयों के देश आर्यावत या भारत के अब्राह्मणीय, अन्य भाषाई क्षेत्रों तथा अन्य परिवेशीय सांस्कृतिक क्षेत्रों (इको-कल्वर जोन्स) दोनों में कैसे वर्ण-जाति व्यवस्था का उदय, विकास और प्रसार हुआ, इसके समझने के लिए ब्राह्मण, बौद्ध, जैन ग्रन्थों के साथ संगम साहित्य तथा तमिल ग्रन्थों से अनेक जानकारियाँ मिलती हैं। भारत में राज्यों-साम्राज्यों के उदय तथा विदेशी आक्रमणकारियों, उनके द्वारा स्थापित शासन-व्यवस्था आदि पर देशी-विदेशी साहित्यकारों, इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों, मानवविज्ञानियों की अनुपम कृतियाँ उपलब्ध हैं। साधारण पाठकों के लिए इन सबों पर शायद विहंगम दृष्टि डालना संभव नहीं है। यहाँ कुछ मूल केन्द्र बिन्दुओं को समझने का प्रयास किया गया है।

यह अकाट्रय सत्य प्रतीत होता है कि वैदिक काल में वर्ण-जाति व्यवस्था के उदय और प्रसार में कर्तृत्व की मुख्य भूमिका ब्राह्मणों ने निभाया। उत्तर वैदिक काल में वे पर्दे के पीछे चले गये और इनका स्थान शासकों तथा संबंधित समाज के प्रभुत्वशाली अभिजनों ने ले लिया। वे ब्राह्मण जिनका संबंध शासकों तथा संबंधित समाज के प्रभुत्वशाली अभिजनों के साथ था, कुछ भूमिका में बने रहे।

वर्ण-जाति व्यवस्था के उदय और प्रसार का भौतिक कारण भी रहे हैं। तौह धातुओं के साथ अन्य धातुओं के उत्पादन ने जीविकोपार्जन के साधनों में क्रान्ति ला दिया था। इसका प्रभाव केवल कृषि क्षेत्र में ही नहीं बल्कि शिल्प, वाणिज्य तथा कला के क्षेत्र में भी देखा गया।

सामान्यतः समूहों, कबीलों, राज्यों और साम्राज्यों के आपसी झगड़े, विध्वंस, हिंसा, मारकाट, लूट-खसोट, षड्यंत्र आदि रेखांकित होते रहे हैं। ये सत्य हो सकते हैं लेकिन यह भी सत्य है कि इन सबों से कहीं अधिक बलशाली आपसी मिलन, सद्भाव, एक दूसरे के प्रति सहयोग, आदिमानव की प्रवृत्तियाँ रही हैं। इनका भी जातियों की उत्पत्ति और प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

वैदिक-काल के बाद कई सदियों तक समाज में बौद्ध तथा जैन धर्मों का बोलबाला रहा। दोनों धर्म भेदभाव रहित समाज की संरचना का घोर विरोधी थे। वैदिक काल के बाद दो सदियों में वर्ण-जाति व्यवस्था को समझने के लिए इस काल के भौतिक परिवेश को समझना आवश्यक है। लोहे के बड़े पैमाने पर प्रयोग होने से कृषि में अप्रत्याशित विकास हुआ। फलस्वरूप बड़े-बड़े गृहपतियों, कृषकों के पास ही नहीं साधारण किसानों के पास अधिक जमीन हो गयी जिसके लिए उन्हें मजदूरों, बटाईदारों या ठेका में काम करने वाले मजदूरों की आवश्यकता थी। किसानों के कर देने के

कारण बड़े राज्यों का उदय हुआ। उनके घरेलू काम के लिए दासों और कर्मकारों की आवश्यकता थी। ब्राह्मणों को भी सेवकों की आवश्यकता थी। इसके अनुरूप समाज की संरचना हो रही थी जो मूल रूप से वर्ण-जाति व्यवस्था के विपरीत नहीं थी।

ज्ञान और पैसा के अधिकार के संबंध में बुद्धदेव का स्पष्ट विचार था कि व्यक्ति समाज के किसी समुदाय का क्यों न हो उससे भेद नहीं किया जा सकता था। उनका यह भी विचार था कि ब्राह्मण यदि अपने धर्म का पालन नहीं करता हो तो उसे भी नीचे के वर्ण में डाल दिया जाना धर्म है और यदि कोई चांडाल भी अध्यापक बन जाता है तो उसका उसी भाव से आदर होना चाहिए जैसे औरों का होता है। इन तमाम तथ्यों के बावजूद निर्वादित सत्य है कि बौद्ध, जैन दोनों धर्मों ने मूल रूप से भेद-भाव रहित जाति-व्यवस्था की बुनियाद पर कभी कोई आघात नहीं किया। निःसन्देह दास तथा कर्मकारों के कल्याण के लिए सुधारवादियों के रूप में अनेकों कल्याण कार्यों का उल्लेख मिलता है। कूल मिलाकर कहा जा सकता है शूद्रों की अशक्ताओं में अवश्य कुछ सुधार हुआ लेकिन अशक्ताओं का मूल कारण ज्यों का त्यों बना रहा।

मौर्य शासन काल में वर्ण-जाति व्यवस्था

ई० सन् पूर्व मगध में दो प्रमुख साम्राज्यों नंद वंश और मौर्य वंश का शासन था। नंद वंश के संबंध में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं है। मौर्य शासन काल के अध्ययन के लिए मुख्य स्रोत कौटिल्य का अर्थशास्त्र, मेगास्थनीज का यात्रा वृतान्त तथा अशोक के उत्कीर्ण शिलालेख हैं। इसके साथ देशी-विदेशी विद्वानों की अनुपम कृतियाँ हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र का रचनाकाल विवादित है। अशोक के शिलालेख ब्राह्मी, अरमाईक, यूनानी तथा खरोष्ठी लिपियों में उत्कीर्ण हैं। लेकिन अधिकांश शिलालेख ब्राह्मी लिपि में ही हैं। मौर्य शासकों का राज-धर्म बौद्ध-धर्म था इसके बावजूद मौर्य शासक सभी धर्मों के प्रति सम्मान रखते थे। विद्वानों की अनुपम कृतियों से प्राप्त जानकारियों के अनुसार मौर्य काल में भी वर्ण-जाति व्यवस्था मुख्य तत्व बना रहा। लेकिन सामाजिक पदसोपान के समग्र ढाँचे के भीतर वर्णों की स्थिति एवं पारंपरिक कार्यों में अनेक बदलाव किये गये। विचारधारा के क्षेत्र में ब्राह्मणों को जो पहले असीम सत्ता प्राप्त थी, वह अब क्षत्रियों के हाथ में थी। राज्य के विशेष कार्यों में अवध्य ब्राह्मणों की नियुक्ति की जाती थी। लेकिन विशेष कार्यों में अब तक जो पद ब्राह्मणों के लिए आरक्षित माने जाते थे, उन पदों में अन्य वर्णों के लोगों की नियुक्ति की परंपरा की शुरुआत हो चुकी थी। नयी परिस्थिति ने ब्राह्मणों की स्थिति को बहुत हद तक प्रभावित किया। फलस्वरूप ब्राह्मणों को अपना पारंपरिक कार्य बदलना पड़ा। इस काल के लिखित स्रोतों के अनुसार ब्राह्मण भूस्वामियों को व्यवसाय बदलना पड़ा। ब्राह्मणों का भूस्वामियों और व्यापारियों के रूप में उल्लेख मिलता है। पूर्ववर्ती ब्राह्मणों को अत्यधिक आपवादिक मामलों में ही कृषि अथवा व्यापार करने की अनुमति थी। अधिक संपन्न वैश्वों की स्थिति ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के समान होते जा रही थी जबकि गरीब वैश्व शूद्र समझे जाते रहे। शूद्रों की स्थिति में कोई मूल परिवर्तन नहीं हुआ। शूद्र कृषि कार्य में कर्मकार, बटाईदार, माल-वाहक तथा राज्य के गुप्तचर के रूप में काम में लिए जाने लगे थे। शूद्रों के लिए ब्राह्मणों शास्त्रों में विभिन्न गुनाहों के लिए दण्ड का विधान बनाया गया था, उसमें कोई खास परिवर्तन नहीं हुआ। सारांशतः इस काल में शूद्रों की स्थिति में सुधार हुआ पर अशक्ततायें भी कुछ अपवादों के साथ बरकरार रहीं।

जातियों की उत्पत्ति के संबंध में संजय कुमार मौर्य कृत ‘भारत में जातियों की उत्पत्ति का इतिहास’ का पृष्ठ 5 और 6 उद्दृत किया गया है।

‘प्राचीन भारत में आज से लगभग 2600 वर्ष पूर्व भारत में शाक्य वंश के कुल नौ गणराज्य थे। इसका संकेतन चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने सिक्के पर किया है। उस सिक्के पर एक तरफ शिला का चित्रण है और दूसरी तरफ एक पेड़ की नौ शाखाएँ। विदित हो ये नौ शाखाएँ प्राचीन शाक्य वंश के नौ गणराज्य थे। जो निम्नवत हैं और उन्हीं नौ गणराज्यों से भारी संख्या में जातियों की उत्पत्ति हुई....’

भारतवर्ष के गण-राज्य

शक्य वंश के कुल नौ गण राज्य (कश्यप गोत्र)

शाक्य	मेरिया	कोलिय	मल्ल	लिच्छवी	वैशाली	विदेह	अलक्य	भग
गण-राज्य	गण-राज्य	गण-राज्य	गण-राज्य	गण-राज्य	गण-राज्य	गण-राज्य	गण-राज्य	गण-राज्य
सक्सेना	मौर्य	कोईली	मल्लीय	ग्वाला	वैश्य		केबुली	मग्ग
सौकिया	मोरे	कोइरी	माली	गड़ेरिया	राजपूत			
सकरवार	मोरी	कोल	माला	इत्यादि	इत्यादि			
सैकवार	मुराव	कोभी	मल्लाह					
संखवार	मुराई	कोरी	मल्लहयर					
इत्यादि	मुरिया	कलवार	महरवार					
	मुरभुर	कसीधम	महार					
	मरार पटेल	काँबरे	मांझी					
	मरार पाली	कलिता	मझवार					
	इत्यादि	कम्बाली	इत्यादि					
		कोहली						
		केवट						
		कुम्हार						
		कोहार						
		इत्यादि						

ये सभी गणराज्य एक पेड़ की शाखाएँ थीं। सभी में आपस में शादी विवाह था। सम्पूर्ण भारत में इन नौ गणराज्यों में हमेशा एकता बनी रहे इसके लिए नवगढ़ों का एक परिषद् चन्द्रगुप्त मौर्य ने चन्दोली जिला में बनाया था जिसे आज भी नवगढ़ के नाम से जाना जाता है। इन गणराज्यों की संस्कृति ‘श्रमण संस्कृति’ थी। धर्म जैन व बौद्ध थे। इसमें जातीय व्यवस्था प्रमुख नहीं थी। श्रमण संस्कृति समानता पर आधारित थी। सभी के एक गोत्र कश्यप थे जो एक वंश का एक ही होता है।

पुष्टिमित्र शुंग द्वारा बृहद्रथ की हत्या के साथ पाटलीपुत्र और भारत से केन्द्रीय सत्ता समाप्त और नवगढ़ों की एकता का यह परिषद् भी भंग हो गया। नवगढ़ नवजातियाँ शनै-शनै कई हजार जातियों में विभाजित हो गयी। अखण्ड भारत जिसे चन्द्रगुप्त, विष्णुगुप्त, अशोक महान तथा बृहद्रथ मौर्य ने कन्याकुमारी से लेकर मिश्र तक के भूभाग पर साम्राज्य स्थापित कर एकता के सूत्रों में बाँधा था खण्डित भारत में परिवर्तित होकर अपनी मारक क्षमता खो बैठा। वह भारत 184 ई०प० से लेकर अंगरेजों तक आते-आते न जाने कितने भागों में बँट गया।

मौर्य काल या उत्तरोत्तर भारत में जातियों के बारे में जितना साक्ष्य और प्रमाण मिला है उससे जाति-व्यवस्था प्रसार को समझा जा सकता है।

एस० के० मौर्य की कृति में मौर्य वंश से गुप्त वंश, मौर्य से (विसेन राजपूत) मौर्य सोलंकी वंश, मौर्य से चौहान वंश, शक्य से कुछवाहा वंश, कोइरी, शाक्य, मौर्य, कुशवाहा, माली, काढ़ी, सैनी, तथा कश्यप गोत्र के चमार (दलित), फारसी, पासवान (दुसाध), पाल, चौरसिया (वरैया), लोहार (विश्वकर्मा), खटिह या खटिक, कुर्मी (कुमनी), केवट, मल्लाह, मांझी, खाला, गोप (यादव), वैश्व या बनिया और तैलिक जातियों की उत्पत्ति के वृतांत दिये गये हैं।

मौर्य साम्राज्य के बाद वर्ण-जाति व्यवस्था का पुनर्उत्थान

मौर्य साम्राज्य के पतन तथा बौद्ध और हिन्दू धर्मों के आपसी विद्वेष से देश की राजनीतिक सत्ता हिल गयी थी। वैक्टोरिया, ग्रीक, शक, तथा पार्थिय जैसे विदेशियों का हौसला बढ़ गया था। फलस्वरूप भारत में एक के बाद एक कई हमले हुए। मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद भारत में ऐसा शासक नहीं था जो आक्रमणकारी विदेशियों को मुँह तोड़ जबाब दे सके। सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने विश्वासघात कर मौर्यों से सत्ता हासिल कर लिया था लेकिन देश, समाज की चिंता करने के बजाय, उसकी मुख्य प्राथमिकता देश में बौद्धों को समूल नष्ट करना था। उसके द्वारा एक-एक बौद्ध भिक्षु की हत्या करने के लिए सौ-सौ मुद्रायें देने का राज्यादेश जारी किया गया था। उसने भारत पर यूनानी हमले को नकाम करने के बाद यूनानियों से समझौता कर लिया। इसके बाबजूद राज्य का बिखराव नहीं रुका और शुंगों से कण्व राजाओं ने सत्ता हासिल कर लिया।

शुंग काल में वर्ण-जाति व्यवस्था संबंधित जो प्रमुख जानकारियाँ मिलती हैं, वह है शुंगों का विदेशी आक्रमणकारियों से समझौता कर यवनों का वर्णोत्तर करना और ब्राह्मणीय धर्म का शुद्धिकरण। यवनों से समझौता करके उन्हें हिन्दू धर्म में वर्णोत्तर करना एक प्रकार का धिनौना समझौता था। इससे अनेक जातियों का उदय हुआ और शूद्रों और वैश्यों की अशक्तताओं में वृद्धि हुई। इस काल में शूद्रों की अशक्तताओं के संबंध में आगे भी चर्चा की गई है।

मनुस्मृति में शूद्रों के लिए किये गये विधान का संक्षेप में विवरण

दो सौ ई०पू० से लगभग दो सौ ई० सन् तक में शूद्रों की स्थिति की अधिकांश जानकारी मनु के विधि ग्रन्थ से प्राप्त होती है। मनु के कुछ जातिगत विधान निम्नलिखित हैं-

1. मनु ने विहित किया है कि राजा सावधानी के साथ वैश्यों और शूद्रों को बाध्य करे कि वे अपने नियत कार्य किया करें, यदि ये दोनों वर्ण अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाएँगे तो सारे संसार में गड़बड़ी फैल जाएगी। (viii.418)
2. शूद्रों को सम्पत्ति नहीं जमा करनी चाहिए क्योंकि इससे वे ब्राह्मणों को सताने लगेंगे। (x.129)
3. ब्राह्मण अपने शूद्र द्विज का सामान निर्ममता पूर्वक जब्त कर सकता है, क्योंकि उसे संपत्ति रखने का अधिकार नहीं है। (viii.417)
4. यदि कोई शूद्र द्विज को गाली देकर अपमानित करे तो उसका जीभ काट ली जाएगी। (viii.140)
5. यदि कोई शूद्र द्विज के काम और जातियों की चर्चा तिरस्कार पूर्वक करे तो लाल गर्म लोहे की कांटी उसके मुँह में ढूँस दी जाएगी। (viii.271)
6. यदि वह उद्दंता के साथ ब्राह्मणों को उनका कर्तव्य सिखाए तो राजा उसके मुँह और कान में गर्म तेल डालवा देगा। (viii.375-6)
7. शूद्र जातिच्यूत नहीं हो सकता है, वह संस्कार पाने योग्य नहीं है और उसे आर्यों के धर्म का अनुसरण करने का कोई अधिकार नहीं है। (x.126)

मनु ने जिस प्रकार के जातिगत कष्टरता का परिचय दिया है उसका विस्तृत विवरण देना कठिन है। इसका भारतीय समाज एवं राजनीति में अत्यधिक कुप्रभाव पड़ा। इसके बावजूद कुछ जान-बूझ कर और कुछ भ्रम वश मौर्य साम्राज्य के पतन के पश्चात् शुंग-कण्ठ शासन काल में बौद्धों, शूद्रों एवं वैश्यों पर अत्याचार किये गये। कुछ विचारकों द्वारा इसे समाज-देश हित में उठाया गया कदम और कलियुग से उबरने का उपाय करार दिया गया। ऐसे विचारकों में से एक पं० हरप्रसाद शास्त्री का मौर्य काल के पतन के बारे में कहना है कि- “अशोक की नीतियाँ ब्राह्मण धर्म विरोधी थी। आजकल के ब्राह्मणों की तरह उस समय भी ब्राह्मण पुरोहिताई पेशे से जीविका चलाने वाले ब्राह्मण विद्यमान थे। अशोक ने धर्म मंगल की प्रशंसा और साधारण मंगलों की निंदा करके तथा यज्ञों में पशु-बलि का निषेध करके अप्रत्यक्ष तौर पर ब्राह्मणों की जीविका पर आधात किया था। दण्ड समता और व्यवहार समता को उसने ब्राह्मणों के भूदेवत्व दावे को असत्य सिद्ध कर गवोक्ति की है। धर्म महापात्रों प्रदत्त न्यायिक और प्रशासकीय अधिकारों के कारण उसके द्वारा प्रचारित धर्म में आस्था न रखने वालों ब्राह्मणों को प्रशासनिक और न्यायिक मामलों में असुविधा का सामना करना पड़ा

होगा।” उनके अनुसार इन कारणों से राष्ट्र के ब्राह्मणों में एक प्रतिक्रिया का उदय हुआ होगा जो मौर्यों के शूद्र होने की परिस्थिति में और भयावह हो गया।

मनु का शूद्र और वैश्यों के विरोध में कठोर नियमों का प्रतिपादन तथा कलियुग की धारणाओं को कुछ लोग सर्वथा उचित ठहराते हैं। नयी शक्तियाँ समाज में प्राथमिकता प्राप्त करती जा रही थीं। पुरानी सामाजिक संरचनायें कमज़ोर पड़ती जा रही थीं ऐसे में पुराना ढाँचा वर्ण-जाति अर्थात् ब्राह्मणीय व्यवस्था को बनाये रखने के लिए मनुस्मृति में जिन नियमों का प्रतिपादन किया है, वह उचित है।

ऐतिहासिक साक्ष्यों तथा मनु की स्वीकारोक्ति से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि मौर्य काल में शूद्रों और वैश्यों की स्थिति में अनेक सुधार हुए। शूद्र पहले जो सेवा के कार्य में लगाये जाते थे, वे कृषि कार्यों का हिस्सा बन गये थे। कृषि कार्यों के अतिरिक्त राज्यों के कामों में भी किसी न किसी रूप में हिस्सा लेने लगे थे। वैश्यों में शिल्पियों की स्वतंत्र इकाई बन गयी थी, जो अपनी समितियों तथा संघों द्वारा व्यापार करते थे। सम्भवतः कुछ वैश्यों की स्थिति में गिरावट आयी हो और वे शूद्रों की स्थिति में आ गये हों। समग्रता में विचार करने में यह पता चलता है कि वर्ण-जाति व्यवस्था के पचड़े से परे भारतीय समाज में विकास की नयी धारा का विकास हो चुका था। कृषि, व्यापार, कला के सभी क्षेत्रों में समाज के अधिकतर लोगों का सम्मान बढ़ा था। वर्ण-जाति व्यवस्था कमज़ोर पड़ गयी थी। मनु ही प्रथम लेखक है जिन्होंने स्पष्ट शब्दों में शूद्र को बटाइदार माना है। शक राज्य रुद्रदामन, जो वर्णाश्रित समाज का समर्थक था, दावा करता है कि उसने अपनी प्रजा से बिना बेगारी कराए सुदर्शन झील की मरम्मत करायी। नये हस्तशिल्पों और शिला संघों के उदय के साहित्यिक प्रमाण विदेशी लेखकों की रचनाओं में वर्णित रोम तथा भारत के व्यापार संबंध के साथ देखा जा सकता है। यह अच्छा हुआ कि गुप्तकाल के शासकों ने इसे आगे बढ़ाया। मनुस्मृति ने समाज में कितना प्रभाव डाला इसपर विद्वानों का भिन्न मत है, लेकिन यह अकाट्य सत्य है कि मनुस्मृति के रूप में रूढ़िवादी ब्राह्मणों को एक विशेष औजार प्राप्त हो गया था।

ई० सन् की पहली सदी के राज्यों में वर्ण-जाति व्यवस्था

कुषाण साम्राज्य का कनिष्ठ प्राचीन भारत के प्रसिद्ध शासकों में से एक है। जिसका मूल तथा शासन काल बहुत ही विवादित है, इसमें कनिष्ठ के शासन काल की तिथियों का निर्धारण भी सम्प्रिलित है। विद्वानों ने अलग-अलग तिथियों को सामने रखा है, 78 ई०, 103 ई०, 110 ई०, 127 ई०, 144 ई० से 248 ई० सन् को अधिक विश्वसनीय बताया जाता है।

कनिष्ठ के शासन काल की आंशिक जानकारी ही प्राप्त है। जानने के लिए यात्रा वृतांत में पुरालेखीय प्रमाण के साथ उत्तरकालीन बौद्ध कथाओं तथा अनुश्रुति मुख्य स्रोत हैं। उसके मूल के संबंध में दो मत हैं। कुछ विद्वानों का मानना है कि कुषाण जनों का संबंध एशिया के तोखारी (तोहारी) कबीलों से तथा कुषाण साम्राज्य के राज कुजुल कदाफिसस का रोमन प्रभाव के चलते रोम से संबंध बताया गया है। कुषाणों का राज्य उत्तर-पश्चिम भारत के दक्षिण के कई क्षेत्रों में फैला हुआ था। कनिष्ठ के बारे में कहा जाता है उसने बौद्ध धर्म अपना लिया था। कनिष्ठ के प्रमुख उत्तराधिकारियों में हुनिष्ठ और वासुदेव का नाम आता है। वासुदेव ने शैव धर्म अपना लिया था और कुषाणों का तीव्र गति से भारतीयकरण हुआ था।

गुप्त-साम्राज्य

गुप्त काल में मौर्य-काल के समान मगध एक बार फिर नयी राजनीतिक शक्ति बन गया। कुषाणों का सभी भारतीय प्रदेश गुप्त साम्राज्य में सम्प्रिलित कर लिये गये। गुप्त वंश का संस्थापक श्रीगुप्त था। गुप्त साम्राज्य का शुद्धिकरण चन्द्रगुप्त प्रथम के शासन काल में हुआ। समुद्रगुप्त ने आर्यवत के नौ राजाओं और दक्षिण के बारह राज्यों को अपने राज्य में मिला लिया था। इस काल में दो नागवंशीय राज्यों का उल्लेख है। गुप्तकाल का शासन काल 320 ई० सन् से छठी सदी तक माना जाता है। गुप्त काल के साम्राट का अन्त का कारण हूप तथा हेफताब कबीलों के आक्रमण को माना जाता है। दोनों कबीले के लोग पहले मध्य एशिया में रहा करते थे।

गुप्त शासन काल में भारतीय धर्म और सांस्कृतिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना देखने को मिलती है। वह था ब्राह्मणीय धर्म का नवोन्मेष। ब्राह्मण धर्म का नवोन्मेष शायद इसलिए आवश्यक समझा गया हो कि उस काल में विदेशी आक्रमण का खतरा बना हुआ था, बौद्ध और जैन दोनों धर्म पतन की राह में थे, ब्राह्मणीय धर्म में निर्धारित अनेक विधि-विधान कालातीत हो गये थे, स्वतंत्र रूप से धार्मिक विश्वासों, मत, अवधारणाओं रहित नाना संप्रदायों, संस्थाओं आदि का उदय हो रहा था। गुप्त शासकों ने इन सबों को एक में समन्वित कर नया नाम देने का प्रयास किया। गुप्त

शासकों को इसमें सफलता भी मिली और ब्राह्मणीय धर्म का नया नाम हिन्दू धर्म रखा गया। हिन्दू धर्म के नवोन्मेष होने के बाद वर्ण-जाति व्यवस्था की स्वीकारिता और लागू करने पर भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वासों, धारणाओं आदि से रहित नाना संप्रदायों, समूहों, धार्मिक-सामाजिक संस्थाओं को हिन्दू धर्म में बने रहने तथा विकास करने की स्वतंत्रता को सम्भव बना दिया। इसके साथ आर्येतर जातियों के साथ समन्वय की सम्भावना भी बढ़ गयी थी।

हिन्दू धर्म के नाम पर ऐतिहासिक सत्य है कि भारत में विभिन्न सम्प्रदायों, धर्मों को अरबीयों ने हीन भावना से सिन्धू-धर्म का नाम दिया था। चूंकि अरबी में ‘स’ का उच्चारण ‘ह’ के रूप में होता है, इससे सिन्धू धर्म का उच्चारण हिन्दू धर्म के रूप में हुआ। भारतीयों ने इसका प्रयोग बहुत ही संक्रामक रूप में किया है।

अनेक इतिहासकारों, समाजशास्त्रियों तथा विद्वतजनों ने इसे एक महत्वपूर्ण धार्मिक समन्वय के रूप में देखा और आवश्यक बताया। वहीं अनेक ने इस पर तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त की है। डॉ० भीमराव आंबेडकर की राय में, हिन्दू धर्म में ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है जिसके समक्ष आपस के तमाम भेदों के बावजूद नतमस्तक होना सभी हिन्दू अपना कर्तव्य मानते हों। ऐसा एक सिद्धान्त है और वह है जाति का सिद्धान्त।

विदेशी आक्रमणों से मुकाबला करने के लिए धार्मिक एकीकरण का प्रयास किया गया। निःसन्देह यह अच्छा कदम था। लेकिन जिस प्रकार जाति-व्यवस्था को पुनः स्थापित किया गया उससे यह प्रतीत होता है कि बाहरी आक्रमण से सुरक्षा के लिए अब भी शासक वर्ग देश की बीस प्रतिशत से भी कम जनता पर निर्भर थे। यह कहाँ तक सही था इसकी परीक्षा आने वाले मध्यकाल के कुछ सदियों में होना था। जब भारत वर्ष में वर्ण-जाति व्यवस्था शिखर में थी।

क्षत्रप तथा सातवाहन वंश

ईसवी सन् की पहली सदी में दक्षिणी भारत में बड़े-बड़े राज्यों का उदय हो रहा था। वे सातवाहन, शालिवाहन तथा आंध्र वंश से जाने जाते थे। कलिंग राज्य के पतन के बाद सातवाहनों के मुख्य प्रतिष्ठानों विदेशी शक कबीलों के वंशज जो पहली शताब्दी में ही सिन्धु के निचले प्रदेशों में आ बसे थे, ईसवी सन् की पहली सदी में शक्तिशाली हो गये थे। उन्होंने दूसरी शताब्दी के मध्य में सातवाहनों के अधीन कुछ प्रदेशों में कब्जा कर लिया था। सातवाहनों का शक-क्षत्रपों से लम्बे समय तक बीच-बीच में युद्ध चलता रहा। सातवाहन लम्बे समय तक अपने प्रभाव को बनाये रखने में असफल रहे और दक्षिण पूर्वी प्रदेशों में सीमट कर रह गये। सातवाहन बौद्धों के संरक्षक थे। यह सम्भावना व्यक्त किया गया है कि प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन की कृतियाँ सातवाहनों से संबंधित हो। चीनी यात्री यू-नान चांग ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा था कि नागार्जुन सातवाहन दरबार में ही रहता था।

वाकाटक वंश

सातवाहन साम्राज्य के पतन के बाद कई छोटे-छोटे राज्यों में प्रभुत्व के लिए प्रचंड संघर्ष हुआ। अंत में वाकाटक राजवंश सबसे शक्तिशाली वंश के रूप में उभरा। इस वंश का आरंभिक काल 255 ई० के पास माना जाता है। इस वंश के संस्थापक राजा विंध्यशक्ति को माना जाता है। राजा विंध्यशक्ति का पुत्र तथा उत्तराधिकारी प्रवरसेन प्रथम (275-335) था। उसके अधीन नर्मदा तथा कृष्णा नदियों के बीच आनेवाले इलाके थे।

मध्य भारत में अपना पैर जमाने के प्रयास में प्रवरसेन ने नागवंशियों के साथ वैवाहिक संबंध स्थापित किया। वाकाटक राजवंश व उनके स्थानीय शाखायें सत्ता संभाल नहीं सके और उन्हें शीघ्र ही चालुक्य राज्य के प्रभुत्व को स्वीकार करना पड़ा। वाकाटक के शिलालेखों के उल्लेख से पता चलता है कि रुद्रसेन प्रथम शैव था, जबकि रुद्रसेन द्वितीय वैष्णव था। वाकाटक राज-काल में बौद्ध तथा जैन के साथ-साथ हिन्दू धर्म भी व्यापक रूप में प्रचलित था।

पल्लववंश तथा सुदूर दक्षिण के राज्य

सातवाहन के बाद वाकाटक वंश के साथ-साथ पल्लव तथा इक्ष्वाकु भी महत्वपूर्ण भूमिका में रहे थे। पल्लव राज्य की राजधानी कांची अथवा कांचीपुरम् (कांचीवरम्) थी।

ई० सन के प्रारंभिक सदियों में ही देश के धूर दक्षिण में चेर, पांडय तथा चोल राजाओं का अस्तित्व बना हुआ था। इन राज्यों ने रोम के साथ सीधे व्यापारिक संबंध बना रखा था। लेकिन इन राज्यों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन से संबंधित कुछ भी स्पष्ट जानकारी उपलब्ध नहीं है।

दक्षिण के राज्यों में वर्ण-जाति व्यवस्था का प्रसार

गुप्त-शासन काल के बाद भारत में राजवर्झन का मुख्य साम्राज्य था जो तीस वर्षों तक बना रहा। इस काल में वर्ण-जाति व्यवस्था के उदय और प्रसार में ब्राह्मण समुदाय के सदस्यों का उतना कर्तृत्व की भूमिका नहीं निभाई जितना शासक वर्ग तथा समाज के अधिजनों ने निभाई। इस संबंध में कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं -

तमिल प्रदेश चेन्नई में पनन (अर्थात् चारण) तुरियन (तुरि बजाने वाला), परेयन (किरणी ढोल बजाने वाला) और कटपंन (शायद मुखगन देवता का पुरोहित) जो युद्ध तथा जन्म-मृत्यु आदि के औपचारिक अवसरों पर वीणा तथा विभिन्न प्रकार का ढोल बजा कर अनिष्टकारी अलौकिक शक्तियों को नियन्त्रण में रखने का काम करते थे तथा संगम शासक जो द्रविड़ मूल के थे, उनके राजत्व की वैधता का स्रोत इन चारणों द्वारा की गई प्रशस्तियाँ थीं। कालान्तर में वर्ण- विचारधारा की जरूरत पड़ी। जनजातीय बंधनों से परे इस आवश्यकता की पूर्ति ब्राह्मण किया करते थे। इसका मतलब यह नहीं कि जहाँ उत्तर के ब्राह्मण नहीं थे, वहाँ वर्ण-विचारधारा को पूरा नहीं किया गया हो। जब वर्णों की कल्पना लोगों को स्वीकार्य हो गयी तो देशी पुरोहितों को ब्राह्मणों के रूप में स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं रह गयी। ब्राह्मणों का देशान्तर वर्ण-व्यवस्था के प्रसार का महत्वपूर्ण कारण नहीं था, लेकिन स्वयं यह व्यवस्था इतनी लोचदार थी की जनजातियों की आबादी के विभिन्न हिस्से अलग-अलग स्तरों पर ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों के रूप में समाहित हो गये।

दूसरा उदाहरण आन्ध्र प्रदेश से है। वर्तमान के 'बोया' एक प्रमुख ब्राह्मण समुदाय से है। पूर्वी चालुक्यों के कुछ आलेखों में उल्लेख के अनुसार कुछ बोया सरदार महत्वपूर्ण राजनीतिक शक्ति बन चुके थे और कई बोया पुरोहितों ने वैदिक पुरोहितों का दर्जा हासिल कर लिया था। आज बोया ब्राह्मण कहीं नहीं है, इसका मतलब यह नहीं

लगाना चाहिए कि आज इन समूहों को ब्राह्मणत्व विहीन कर दिया गया। बहुत संभव है कि कालान्तर में इनके बोया मूल के सारे चिह्न मिट गये हों और उन्हें पूरी तरह से ऊँचे दर्जे के ब्राह्मणों में शामिल कर लिया गया हो।

तीसरा उदाहरण उड़ीसा से है। उड़िया ब्राह्मणों का एक बड़ा उपभाग ‘बलरामगोष्ठी’ के नाम से जाना जाता है। इनके संबंध में प्राप्त तथ्यों के आधार पर कहा जाता है कि पहले वे घने जंगलों से आच्छादित क्षेत्र में रहा करते थे जहाँ उन्होंने जंगलों को काट-जला कर खेती लायक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। खेती का काम करने के साथ वे हल की पूजा किया करते थे। ब्राह्मणीकरण में उनके कर्मकांडी श्रेष्ठता को दरकिनार कर दिया गया। कारण स्पष्ट था। ब्राह्मणों के लिए हल की पूजा करना तो दूर की बात थी, स्पर्श करना भी ब्राह्मणीय शास्त्र के विरुद्ध था। लेकिन बलरामगोष्ठी के सदस्य, केन्द्रीय क्षेत्रों में राजनीतिक सत्ता के निकट का संबंध होने के कारण अपनी कर्म-कांडी श्रेष्ठता के दावों को प्रतिष्ठित करने में सफल रहे।

ऐसा प्रतीत होता है कि दक्षिण और पूर्वी क्षेत्र में क्षत्रिय या राजपूत वर्ण का उदय इसलिए नहीं हुआ कि इन क्षेत्रों में ऐसा कोई विजेता अभिजन वर्ग नहीं था जो अपनी पहचान कायम रखने के लिए काल्पनिक क्षत्रिय दर्जे का सहारा लेता। यद्यपि कभी-कभी शासक वर्ग के कुछ लोगों ने यह दर्जा हासिल करने की कोशिश की लेकिन शायद वे सफल नहीं रहे।

इसमें यह तथ्य भी आया है कि अलग-अलग क्षेत्रीय परिस्थितियों, विभिन्न सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में एक दूसरे से भिन्न प्रकार की जातियों का उदय हुआ। ईरानी, यूनानी, शक, कुषाण, हूण-गुजर आदि विदेशी समुदाय भारत में आकर बस गये थे। कई-एक क्षेत्रों में इनका शासन था। प्रायः सबने भारत के किसी न किसी धर्म को स्वीकार कर लिया था। इन विदेशियों की स्थानीय आबादी में घनिष्ठ संपर्कों और अन्तर्विवाहों से अनेक जातियों का उदय हुआ।

ईसवी सन् की प्रथमार्ध में वर्ण-जाति व्यवस्था

मौर्य काल के समान इन सदियों में भी धर्म में वर्ण-जाति व्यवस्था मुख्य बना रहा। लेकिन सामाजिक रूप सोपान के समग्र ढांचे के भीतर की प्रक्रिया चलती रही जिसका प्रारंभ मौर्य काल में हुआ था। समाज में व्यक्ति के वंश का महत्व के स्थान पर व्यक्ति की वास्तविक स्थिति तथा सांपत्तिक हैसियत पर अधिक जोर दिया जा रहा था। कर्म-काण्ड तथा पशु-बलि प्रथा के कमजोर पड़ने से ब्राह्मणों की भूमिका कम हो गयी थी। बहुत से ब्राह्मण-परिवार निर्धन हो गये थे। जीविकोपार्जन के लिए पंडिताई छोड़ कर उन्हें अन्य स्नोत खोजना आवश्यक हो गया था। क्षत्रियों की भूमिका भी घटती गयी क्योंकि शासकीय पदों में क्षत्रियों के साथ-साथ अन्य कुलों के सदस्यों को अधिकाधिक नियुक्त किया जाने लगा था, जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

वैश्व वर्ण में बिखराव जो पहले ही शुरू हो चुका था, इन सदियों में तीव्र गति से चलती रही। चीनी यात्री यू-नान चांग ने शूद्रों को जमीन कास्त करने वाला बताया है। पारंपरिक वर्ण विभाजन अपना पुराना महत्व गंवाते जा रहे थे। वर्ण की भाँति जाति भी वंशागत ही होती थी और विशेष व्यवसायों से संबंधित थी। लेकिन वह छोटे संवर्ग थे। जातियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ती जा रही थी। श्रम के विभाजन और उसके विशेषीकरण के परिणामस्वरूप शहरों, कस्बों में, शिल्पकर्मियों के विभिन्न संवर्गों में जातियों की संख्या में विशेष वृद्धि हुई। गुप्तकाल में सभी जातियों के बारे में ऐसे सख्त नियम नहीं बने थे, पारंपरिक व्यवसायों को बदल पाना संभव था। इस काल की पुरालेखीय-सामग्री से इस आशय की जानकारी मिलती है कि पश्चिमी भारत में उत्पादन समस्या पैदा होने के कारण रेशमी कपड़ा बुनकरों की श्रेणी अन्यत्र चली गयी और अन्य व्यवसाय अपना लिया। उनमें कुछ सैनिक, धनुर्धारी और चारण तक बन गये, अर्थात् सामाजिक दृष्टि से वर्ण अनुक्रम के लिहाज से वे ऊपर उठ गये थे। सारांश के रूप में कहा जा सकता है सोपानी चरण में वर्ण की अपेक्षा अभी तक वर्गीय दृष्टिकोण पर ध्यान दिया जाता था।

झारखण्ड के आदिवासियों और सदानों के अध्ययन से यह पता चलता है कि झारखण्ड के विशेष ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों से एक भिन्न प्रकार की व्यवस्था का उदय हुआ जो भारत के अन्य क्षेत्रों से बिलकुल भिन्न है, जिसकी चर्चा आगे की गयी है।

छठी से सतरहवीं सदियों में वर्ण-जाति व्यवस्था

हर्षवर्जन के बाद भारत में कोई ऐसा सम्राट नहीं हुआ जो भारत के केन्द्रीय सत्ता को संभाल सकता। फलस्वरूप छोटे-छोटे शहरों में बँटकर भारत एक महाद्वीप बनकर रह गया। समाज में धर्म की भूमिका अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। प्रासंगिक अवधि में बौद्ध, हिन्दू, जैन, आदिवासी जातियों के आदि धर्म के साथ इस्लाम धर्म का प्रवेश हो चुका था। नाना सम्प्रदायों और धाराओं के साथ हिन्दू धर्म के प्रभुत्व का युग था। हिन्दू धर्म में जातियाँ अनिवार्य थीं और जातीय ढाँचे में प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति उनके पूर्वजन्म के कर्मों के फल पर निर्धारित थी। देश का जीवन मुख्यतः चार तबकों में बँटा हुआ था।

पहला तबका राजा, शासक, रक्षक, दरबारी आदि लोगों का था। जिन्दगी का असली मजा इन्हीं लोगों को नसीब में था। समाज के अन्य तबके के लोगों के प्रति उन्हें कोई सहानुभूति नहीं थी।

दूसरा तबका धार्मिक ब्राह्मण, पंडितों का था। बौद्ध धर्म पतन की राह में था। जैन और आदि धर्म का समाज में कोई प्रभाव नहीं था। ब्राह्मण पंडित श्रेष्ठ ग्रंथि-बोध से ग्रसित थे। इनके संबंध में अलबैरूनी ने लिखा है— “हिन्दू लोग समझते हैं कि उनके देश जैसा दूसरा देश नहीं है। उनके राजाओं के जैसा दूसरे राजा नहीं हैं, उनका धर्म जैसा दूसरा कोई धर्म नहीं है और उनके शास्त्रों जैसा दूसरा शास्त्र नहीं है। यदि तुम खुरासन और ईरान के शास्त्रों और विद्वानों के संबंध में उनसे बात-चीत करोगे, तो वे तुमको मूर्ख ही नहीं मिथ्यावादी भी समझेंगे।”

ब्राह्मण पंडितों का मानना था कि संसार में यदि तुनुक चीज है तो वह है व्यक्ति का जनेऊ और उसका जाता। जो जाति एक बार जाती है तो फिर वापस नहीं लायी जा सकती थी। इसके लिए उन्होंने अनेक नियम बना रखे थे और बताया गया कि किसका छुवा हुआ पानी पीना चाहिए, किसका नहीं; किसका छुवा भोजन करना चाहिए और किसका नहीं; कहाँ जाना चाहिए और कहाँ नहीं; कहाँ जाने से मनुष्य अपवित्र हो जाता है इत्यादि। क्या पंडितों को हिन्दुओं की जातियों की पवित्रता बचाये रखने की चिन्ता थी या उनका उद्देश्य और ही कुछ था? बौद्धों के संगत में ब्राह्मण पंडित भी विदेश जाते थे। सुमात्रा और जावा तो ब्राह्मण पंडित ही गये थे, तो फिर हिन्दू-धर्म शास्त्रों में विदेश जाने को पाप क्यों बताया गया और विदेश जाने पर व्यक्ति हमेशा के लिए पतित हो जाता है ऐसी बात क्यों कही गयी? इससे स्पष्ट होता है कि बौद्ध-ब्राह्मण संघर्ष के क्रम में ब्राह्मणों ने विदेश यात्रा करने वाले बौद्धों को नीच-पतित दिखाने के लिए धर्मशास्त्र में विधान बना दिया। एक दूसरी घटना से यह सिद्ध हो

जाता है कि ब्राह्मणों को अपनी श्रेष्ठता और महत्ता के सिवा दूसरों की महत्ता न सूझता था और न स्वीकार था।

भारत में परिश्रम और पराक्रम से इच्छित चीजों को प्राप्त करने की परम्परा अति प्राचीनकाल से रही है। मुहम्मद बिन कासिम ने सन् 712ई० में भारत के सिंध प्रदेश पर आक्रमण कर विजय प्राप्त कर लिया। ब्राह्मणों को चाहिए था कि भारत के वीरों की जो भुजायें देश की रक्षा के लिए फड़फड़ा रही थी उन्हें प्रोत्साहित और भिड़ने के लिए ललकारते, लेकिन ऐसा कुछ नहीं करके उल्टे ‘विष्णु-पुराण’ में कल्कि अवतार की कथा घुसेड़ दिया और विश्वास दिलाया कि ‘सिंधु तट दाविकोर्वा चन्द्रभाग तथा कश्मीर प्रान्तों का उपभोग ब्रात्य, म्लेच्छ और शूद्र करेंगे। वे अल्प कृपा और कोप का कारण होंगे। सदा अनित्य धर्म में रुचि रखने वाले और स्त्री, बालक तथा गायों का वध करने वाले होंगे। तब सम्बल ग्राम के विष्णुयश नामक ब्राह्मण के घर में वासुदेव का कल्कि अवतार होगा और वे सब म्लेच्छों का उच्छेद तथा ब्राह्मण धर्म की पुनः स्थापना करेंगे।’’ इस तरह पुराणों के प्रचार द्वारा देश की रक्षा और जातियों की रक्षा का भार भी देवताओं पर छोड़ दिया।

इतिहास के पन्नों में इस प्रकार की अनेक घटनाओं का उल्लेख है। यहाँ पर एक और घटना प्रासंगिक है— महमूद गजनी सोमनाथ मन्दिर सन् 1025 के जनवरी में पहुँचा। मन्दिर की रक्षा के लिए सेना आ चुकी थी लेकिन पंडित-पुजारियों का हुजुम इस विश्वास में आनन्द मना रहे थे कि मुसलमानों का सफाया करने के लिए सोमनाथ जी ने उन्हें इकट्ठा किया है। मन्दिर में प्रवेश के साथ उनका नाश होना पक्का है। उनका नाश तो नहीं हुआ लेकिन पंडितों के अंधविष्वास के कारण गजनी के लोगों ने करीबन पचास हजार लोगों को मार कर दो करोड़ों की सम्पत्ति लूट लिया।

भारत में तीसरा तबका वैश्यों, शूद्रों और अछूतों का था। वैश्य प्रायः किसान, मजदूर और कारीगर थे। उनका मुख्य काम हाड़-तोड़ मेहनत कर राजाओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करना और अपना जीवन यापन करना था। संक्षेप में कहा जा सकता है कि उनका जीवन भाग्य, भय और भगवान के भरोसे था। शूद्रों का काम ऊँची जातियों की सेवा करना था। इन दोनों का स्वयं का पुरुषत्व और स्वाभिमान कहाँ लुप्त हो गया था, वह पता नहीं चलता था। जैसे शासक-वर्ग और ऊँची जाति के लोग इन्हें तुच्छ समझते थे, वैसे ही इन तबके के लोगों के हृदय में राजाओं के प्रति कोई सहानुभूति नहीं थी। ‘कोई नृप होही हमही का हानी’ यह बात तुलसीदास ने बाद में लिखी। लेकिन यह भाव बहुसंख्य जनता में बहुत पहले से ही वर्तमान था।

चौथा तबका आर्येतर आदिवासी जातियों का था जिन्हें युद्ध में परास्त कर आयों ने समस्त जाति तथा उनके धर्म, भाषा-संस्कृति को दफना कर भारत की धरती में हमेशा के लिए मिटा देना चाहा था। कुछ लोगों की हत्या कर दी गई थी, कुछ लोगों

को बन्दी बना कर अपने कृषि कार्य में और कुछ को सेवा कार्य करने के लिए अपने साथ रखा था। इसके बावजूद बहुत से आदिवासी समुदाय के लोग अपनी जातीय, धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पहचान के साथ जीवन बिता रहे थे।

एक और सम्प्रदाय के लोग थे जो वेद-उपनिषद् तथा ब्राह्मणों की श्रेष्ठता बिल्कुल नहीं मानते थे— जैसे निर्गुणिया संत। योगी नामक आश्रम भ्रष्ट घर-बारियों की एक जाति सारे उत्तरी-पूर्वी भारत में फैली थी। ये नाथ-पंथी थे। कपड़ा बुनकर या सूत कात कर या गोरखनाथ और भरथरी के नाम पर भीख मांगकर जीविका चलाया करते थे। इनमें निराकार भाव की उपासना प्रचलित थी। जाति, भेद और ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के प्रति इनकी कोई सहानुभूति नहीं थी और न अवतारवाद में ही इनकी कोई आस्था थी। आस-पास के वृहतर हिन्दू समाज की दृष्टि में ये नीच और अस्पृश्य थे।

उस काल में ब्राह्मणों का भेद-भाव वर्ण-जाति व्यवस्था और राजाओं के अत्याचार से भारतीय समाज में एक ऐसे समुदाय का उदय हुआ जो ब्राह्मण की जाति-व्यवस्था और राजाओं के अत्याचार का प्रतिकार करने की क्षमता तो नहीं रखते थे लेकिन मुसलमानों का भारत में प्रवेश को समझने लगे थे कि मुसलमान ही ब्राह्मणों और राजाओं का उच्छेद कर उन्हें मुक्ति दिलायेंगे। इस सब बातों को समझने के लिए ‘शून्य-पुराण’ बहुत महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। शून्य-पुराण के कवि मुसलमान नहीं लेकिन हिन्दू रमाई पंडित हैं। मुसलमान भारत में जब उधम मचाने लगे तब उपद्रवों से चाहे वे प्रताड़ित हुए हो लेकिन शून्य-पुराण में कवि की भावना थी कि हिन्दू धर्म के देवता ब्राह्मणों से नाराज हो गये हैं और सभी देवगण मुसलमान भेष धारण कर ब्राह्मणों का संहार करने में लग गये हैं। ऐसे में धर्म का पाँव पकड़ कर रमाई पंडित गाते हैं कि- यह बड़ी ही गड़बड़ी मच गई

यतेक देवतागण, सभे हय्ये एकमत, आनन्देते परिलो इजारा।

ब्रह्मा हैलो महामद विष्णु हैलो पैगम्बर, आदम हईलो शूलपाणि।

गणेश हईलो गाजी, कार्तिक हईलो काजी, फकीर हईलो यतमुनि।

तेजिया आपन भेक, नारद हईलो शेख, पुरन्दर हईलो मल्लना।

चन्द्र, सूर्य आदि देवे, पदातिक हईया सेबे, सेबे मिलि बजाय बाजना।

आपुन चंडिका देवी, तेहु हैला हाया बीबी, पद्मावती हली बीबी नूर।

यतेक देवतागण, हय्ये सबे एकमत, प्रवेश कोरत जाजापुरा।”

(कविता-कौमुदी सप्तम भाग)

भारत में इस्लाम धर्म का प्रभुत्व

मुसलमान शासकों का जिक्र करना यहाँ इसलिए आवश्यक है क्योंकि भारत में विदेशी शासकों में मुसलमान पहले शासक थे जो भारत के किसी भी धर्म से एकाकार करना नहीं चाहते थे। वे चाहते थे कि भारत के लोग इस्लाम धर्म कबूल कर मुसलमान बन जाएँ। मुसलमान शासक यह समझते थे कि भारत के लोगों का बहुदेववाद, मूर्ति-पूजा, वर्ण-जाति व्यवस्था यह सब काफिरों का धर्म है। जो इस बात को नहीं मानते हैं कि अल्लाह (ईश्वर) एक है और उसे एक ही मानना चाहिए। सातवीं सदी से मुसलमानों का भारत आना शुरू हो गया था। मुसलमान अरब सौदागरों का पहला बेड़ा भारतीय समुद्री तट पर 636ई० में आया था। सिंध पर मुहम्मद बिन कासिम की चढ़ाई 712ई० में हुई। नवीं सदी के अंत में, मालाबार के राजा चेरामन पेरुमल ने इस्लाम धर्म कबूल कर लिया था और भारत में सबसे पहले उसी ने अरबों को अपने धर्म-प्रचार का सुविधा दिया था। यहाँ हिन्दू और मुसलमानों का संबंध मैत्रीपूर्ण था। सिंध को जीतने और शासन स्थापित करने के बावजूद भी भारत का ऐतिहासिक विकास किसी प्रकार प्रभावित नहीं हुआ। लेकिन ग्यारहवीं सदी के आरम्भ से भारत, तुर्क मूल के मुसलमानों के आक्रमणों का मैदान बन गया। गजनी के सुल्तान महमूद 1026ई० से हर सर्दियों में भारत पर नियमित रूप से धावा करता रहा। वह मंदिरों को लूट कर नष्ट करता, राजाओं के धन-सम्पदा को छीनता, आबादी से हरजाना वसूल करता और लूट का माल लेकर वापस लौट जाता। वह पश्चिम में सोमनाथ से लेकर कन्नौज क्षेत्रों में अनेक बार छापा मारते रहा। लेकिन पंजाब के रूप में अकेले भारतीय प्रदेश को अपने राज्य में मिलाया और शासन स्थापित किया। मुहम्मद गोरी की हत्या के बाद एक तुर्क गुलाम कुतुबुद्दीन ऐबक, गोरी के इलाकों का आजाद सुलतान घोषित कर दिया गया। उसने 1206ई० में दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया।

यहाँ पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि भारत आनेवाले मुसलमानों की संख्या बहुत ही कम थी। मुसलमानों की संख्या भारत के लोगों से ही बढ़ी जो इस्लाम धर्म कबूल कर मुसलमान हो गये थे। भारत में हिन्दू, मुसलमान कैसे बने इसके संबंध में तथ्यों की भरमार है। यहाँ पर केवल दो तथ्यों का उल्लेख किया जा रहा है। पहला, इतिहास में इस बात का उल्लेख है कि तेरहवीं सदी में रत्नजू नामक एक व्यक्ति (जो शायद हूण शासक खानदान का था) कश्मीर के राजा सहदेव की राजसभा में किसी उच्च पदों पर काम करता था। हिन्दू-धर्म पर उसकी असीम श्रद्धा थी। वह हिन्दू होना चाहता था। किन्तु, पंडितों ने उसे किसी भी प्रकार, हिन्दू नहीं बनने दिया, क्योंकि यह बात ही अकल्पनीय थी। निदान, वह मुसलमान हो गया और उसका बेटा शाह मीर सहदेव को मार स्वयं राजा बन बैठा। जिन ब्राह्मणों ने उसे हिन्दू बनने नहीं दिया था,

उन सबको शाह मीर ने बोरे में बन्द करवा के झेलम में डलवा दिया। ‘श्रीनगर में जहाँ ये लोग डुबाये गये थे, वह स्थान आज भी ‘बर-मजार’ के नाम से प्रसिद्ध है।

दूसरा, बंगाल में जिस ‘काला पहाड़’ नामक प्रतापी मुसलमान असंख्य बंगाली हिन्दुओं को मुसलमान बनाया, वह स्वयं पहले हिन्दू था एवं ब्राह्मणों के अत्याचारों से उबकर ही मुसलमान बना था और मुसलमान बनने के बाद ही उसने बंगाली हिन्दुओं को मुसलमान बनाया था।

मुसलमान शासन काल में वर्ण-जाति व्यवस्था

जातियों की दृष्टि से किया जाने वाला भेद-भाव इस्लामी कानून के लिए एक परायी चीज थी। लेकिन यह मानने का कोई आधार नहीं मिलता है कि मुसलमान शासकों ने वर्ण-जाति व्यवस्था को समाप्त करने के लिए कोई आधात किया हो। हिन्दू धर्म के बारे में उनकी मुख्य आलोचना बहुदेववाद और मूर्ति-पूजा तक सीमित थी। बारहवीं सदी से भारत में वर्ण-जाति व्यवस्था में शिथिलता देखी गयी। उसका श्रेय मुसलमान शासकों को नहीं जाता है। इस्लाम धर्म का भारत में प्रवेश के बहुत पहले से, भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा तबका ब्राह्मण धर्म और वर्ण-जाति व्यवस्था पर निर्ममता से प्रहार कर रहा था। भारत के एक समुदाय ने जिन्होंने पहले से सोच रखा था कि मुसलमान शासक ब्राह्मणों का उच्छेद कर उन्हें वर्ण-व्यवस्था से मुक्ति दिलायेंगे वैसा मुसलमानों ने कुछ नहीं किया। मुसलमान शासकों के संबंध में यह कहा जाता है कि भारत में शासन करने के लिए उन्होंने भारत के राजपूतों और ब्राह्मणों की वर्ण-जाति व्यवस्था से समझौता कर लिया था।

मुसलमान शासकों को जो श्रेय जाता है वह था भारत में राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता कायम करने की। यह एक कठिन काम था। सम्राट अशोक के बाद राजनीतिक एकता में जो बिखराव आया, वह थमने का नाम नहीं ले रहा था। मुगल शासन काल में कठिन परिस्थितियों में राजनीतिक और सांस्कृतिक एकता कायम हुई। इससे सूफी, साधुओं और भारतीय साधकों का मेल-जोल बढ़ा। जिससे देश, धर्म, और संस्कृति के संबंध में नवीन जागृति का उद्भव हुआ। इस दौर में कबीर, दादू और नानक जैसे सन्त हुए।

इसके साथ एक महत्वपूर्ण तथ्य था इस्लाम के स्वतंत्र चिन्तकों का मुँह शील बंद होना। वे धर्म या धर्म गुरुओं के विचारों के संबंध में एक शब्द कहने का साहस जुटा नहीं पाते थे। वर्ण-जाति विरोधियों के हौसले से उन्हें स्वतंत्र विचार रखने की नयी उर्जा पा ली और स्वतंत्र चिन्तन के प्रचार-प्रसार में सहयोग के लिए आगे आये। इससे भारत स्वतंत्र चिन्तन के प्रसार में मजबूती आयी।

वर्ण-जाति व्यवस्था का चिरायु बने रहने का कारण

देश तथा समाज में तमाम दुष्परिणामों तथा विरोधों के बावजूद वर्ण-जाति व्यवस्था चिरायु बनी हुई है। इसके कारणों की तलाश और व्याख्या करना जटिल और कठिन है। फिर भी कुछ बिन्दुओं पर प्रकाश डाला गया है।

वर्ण-व्यवस्था के चिरायु होने के कारणों में प्रमुख कारण है इसे कर्म के सिद्धान्त पर प्रबल धार्मिक औचित्य प्रदान किया जाना। सिद्धान्त का प्रथम प्रतिवादन ‘बृहदारण्यक उपनिषद् (101.2) में दिया हुआ है। जातिगत नियमों का शासक वर्गों की स्वीकृति और समर्थन प्राप्त था और हिन्दू-धर्म को मानने वालों ने इस शास्त्रीय सिद्धान्त को आँख मूँद कर स्वीकार कर लिया था। प्रारम्भ में इसका धार्मिक कारण रहा हो लेकिन जिस प्रकार धार्मिक शास्त्रों में इसका विधान किया गया है उसका प्रबल प्रभाव देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक जीवन पर पड़ा। ब्राह्मणों को तो निःसंदेह उस हृद तक लाभ उठाना ही था जिस हृद तक कोई भी पुरोहित वर्ग उस धार्मिक-व्यवस्था का सफलता से उठाता है जिसका वह समर्थन करता है। लेकिन मुख्य लाभानुयोगी तो शासक वर्ग थे। क्योंकि इस व्यवस्था ने शासक वर्ग को निम्नलिखित कार्यों में भरपूर सहायता प्रदान की है -

- किसानों के निर्वाह व्यय को कम करके अधिक राजस्व प्राप्त करने की राह को आसान बना दिया।
- श्रमिक जातियों के दमन तथा उनकी संरचनागत परवशता ने कृषक-श्रम और करीगरों के उत्पादों तथा सेवाओं की लागत को भी सस्ता बना दिया।
- शिल्पों के वंशानुगत हस्तांतरण, प्रशिक्षण आदि पर होने वाला खर्च कम हो गया।
- श्रम और सेवा कार्य करने वाले वर्गों का जातियों में विभाजन से शासक वर्ग के विरोध में आवाज उठाने या संघर्ष करने की ताकत कुंद हो गयी थी।

शासक वर्गों ने वर्ण-जाति व्यवस्था से किस हृद तक लाभ उठाया इसके संबंध में आगे भी प्रकाश डाला गया है। यहाँ पर यह उल्लेख करना जरूरी है कि जाति-व्यवस्था के पक्ष और विपक्ष में अनेकानेक ढंग से व्याख्या की गयी है। उसमें कुछ तो आमक हैं कुछ ऐसे भी हैं जो वर्ण-जाति व्यवस्था का बने रहने का आंशिक स्पष्टीकरण तो देते हैं लेकिन समग्रता में विचार नहीं करते। इस व्यवस्था की चिरायु होने का एक ही प्रमुख कारण है, वह है ब्राह्मणों और शासक वर्गों का गठजोड़।

झारखण्ड में वर्ण-जाति व्यवस्था का प्रसार

झारखण्ड में वर्ण-जाति के प्रसार को समझने के लिए झारखण्ड के प्राकृतिक या भौगोलिक (फिजियो ग्रैफिकल), समाज संरचनायें, भाषा, समाज, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन के संबंध में संक्षेप में ही सही यहाँ पर चर्चा करना आवश्यक है। वास्तव में आज तक झारखण्ड का कोई सिलसिलेवार प्रमाणिक इतिहास नहीं लिखा गया है। भारत के विभिन्न क्षेत्रों के सामाजिक- सांस्कृतिक जीवन के संबंध में विशद् रूप में शोध कृतियाँ उपलब्ध हैं पर झारखण्ड के संदर्भ में शायद ही उपलब्ध हैं। हाल के वर्षों में झारखण्ड के विद्वतजनों का विशेष ध्यान इस ओर गया है और उनकी अनेक रचनायें उपलब्ध हैं।

डॉ० विसेश्वर प्रसाद केशरी द्वारा कृत “छोटानागपुर का इतिहासः कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ” से अनेक जानकारियाँ मिलती हैं। उनके अनुसार झारखण्ड कभी घने जंगलों-पहाड़ों से बनाच्छादित था। यह सीढ़ीदार पठार (प्लेटो) है। किसी छोर से पहुँचने के लिए समुद्रतल से 500 से 1000 फीट की दूरी तय करना आवश्यक है। सबसे ऊँचाई वाला क्षेत्र नेतरहाट पहुँचने के लिए 3500 फीट की ऊँचाई तय करनी होती है। प्राचीन काल में, आवागमन का साधन नहीं होने के कारण मार्ग ढूँढ़ना और इतनी दूरी तय करना कठिन काम था। प्रो० बिमला चरण शर्मा यूनिवर्सिटी प्रोफेसर (भूगोल विभाग) के अनुसार “झारखण्ड की विशेषता है कि इसकी सीमायें कुछ इस तरह स्पष्ट एवं प्राकृतिक हैं कि एक भौगोलिक इकाई के रूप में पहचान प्रदान करती हैं।”

इसका मतलब यह नहीं निकाला जा सकता है कि यह क्षेत्र मानव रहित था। झारखण्ड के विभिन्न स्थलों जैसे झारिया के कोयला खानों में प्राचीन प्रस्तर युग के पत्थर के कुल्हाड़े तथा भाले, चाईबासा-चक्रधरपुर के निकट संजय नदी धाटी तथा अन्य कई स्थलों में नव प्रस्तर युग के धारदार पत्थर आदि (फ्लेक्स एण्ड नाईम्स), बूढ़ाड़ीह-तमाड़ में नव प्रस्तर युग के अनेक कुल्हाड़े (कोपर सेल्टस) तथा कई स्थलों में ताम्रयुग के खंडित छड़े तथा आभूषण आदि के टुकड़े मिले हैं। यह जानकारियाँ डॉ० केशरी ने राँची जिला के गजेटियर 1917 और सिंहभूम जिला के गजेटियर 1918 से लेकर “छोटानागपुर का इतिहासः कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ” में उछृत किया है। डॉ० केशरी के अनुसार उर्प्युक्त उपकरण विधिवत अनुसंधानों की उपलब्धि न होकर संयोगवश एवं अनायास उपलब्ध हुए हैं। अतः इससे कोई विशेष निष्कर्ष नहीं निकाले जा सकते। किन्तु इससे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि प्रागैतिहासिक मानव को यह स्थल अज्ञात नहीं था। दूसरे शब्दों में छोटानागपुर अति प्राचीनकाल से सर्वथा निर्जन न होकर आदि मानव का भी निवास स्थल रहा है। कालक्रम से यह प्राकू द्रविड़ और द्रविड़ जातियों का वास स्थल रहा। यहाँ असुरों की विकसित सभ्यता के भी प्रमाण हैं।

मुण्डाओं का छोटानागपुर में प्रवेश

मुण्डा जनजाति सिंधु-धाटी एवं दोआब-गंगा के मैदानी क्षेत्र में पहले से भी रहते थे जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। इसके अलावा अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार यह कहा जा सकता है कि मुण्डाओं के एक समूह ने बनारस क्षेत्र से पलायन कर ईस्वी सन् के 600 वर्ष पूर्व झारखण्ड में शरण लिया। ईस्वी सन् की पहली सदी तक कुछ अपवाद के साथ झारखण्ड प्राक् द्रविड़ तथा द्रविड़ जनजातियों का निवास स्थल था। उनमें किसी प्रकार की जाति-व्यवस्था नहीं थी।

नागवंशियों का झारखण्ड प्रवेश और राज्य का उदय

ईस्वी सन् की पहली सदी के बाद भारत के अन्य क्षेत्रों के देशी-विदेशी शासकों, जनजातियों या गैर जनजातियों के प्रवाहों को रोक पाना संभव नहीं रह पाया। यदि हम माने कि इतिहास का मूल तत्व परिवर्तन है तो यह मानना होगा कि भारत के अन्य क्षेत्रों विशेषकर दोआब-गंगा के मैदानी तथा मगध क्षेत्रों में जो राजनीतिक घटनायें घट रही थीं, उसकी आँच झारखण्ड में नहीं पड़ी, इसकी संभावना क्षीण थी।

ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार ईस्वी सन् के पहली सदी में झारखण्ड प्रदेश में सर्वप्रथम नागवंशी राज्य का उदय हुआ और उसका शुभारंभ फणि मुकुट राय के सन् 83 ई० में राज्यारोहण से हुआ। एक पौराणिक दंत कथा के अनुसार मध्य-देश का पुण्डरिक नाग का एक ब्राह्मण बाला से विवाह उपरान्त फणि मुकुट राय का जन्म हुआ था। झारखण्ड के मुण्डा जनजातियों की सहमति से ईस्वी सन् 83 में प्रदेश के विभिन्न जनजातियों को एक सूत्र में बांधने के लिए राज्य की स्थापना की गयी थी। यदि उस समय की सामाजिक और राजनीतिक स्थितियों का ध्यान से अध्ययन किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट दिखाई देता है कि झारखण्ड के विभिन्न क्षेत्रों की विभिन्न जनजातियाँ सम्भवतः विभिन्न सांस्कृतिक स्तर पर जीवन विताने वाली जनजातियों के पारस्परिक मिश्रण और टकराव की रिति में जीवन यापन करने के लिए बाध्य थे। विदेशी कुषाण शासकों की उपस्थिति शायद उसे और कठिन बना रही हो। ऐसे में मुण्डाओं को जिनका नामों से पारिवारिक संबंध था, झारखण्ड में राज्य स्थापित करने की प्रेरणा मिली हो और झारखण्ड में राज्य का उदय हुआ हो, इस सम्भावना से इन्कार नहीं किया जा सकता है। इसमें एक दूसरे पहलू पर भी ध्यान देना जरूरी है। उस काल में शासक बनने के लिए शासक को राज्य-वंश का होना आवश्यक माना जाता था। इस काल में राज्यवंश का दावा करने के लिए एक युक्ति ढूढ़ निकाली गयी थी, वह था ब्रह्म-क्षत्र के बीच अंतर्जातीय विवाह से उत्पन्न सन्तान क्षत्र-वंश का दावेदारी कर सकता था। निःसंदेह यह वंशावली मिथक दैवी तत्वों का मानवीकरण की युक्ति मात्र थी जिसके

तहत बताया गया है कि क्षत्रियों को पृथ्वी पर शासन करने के लिए अवतरित किया गया है। नागर्वंशी स्वयं को नागर्वंशी क्षत्रिय बताते हैं लेकिन उनके जनजातीय मूल में कोई सन्देह नहीं है और वे प्राचीन भारत के द्रविड़ जनजातियों का अभिन्न अंग थे।

यहाँ पर एक और तथ्य पर ध्यान देना जरूरी है कि झारखण्ड में सर्वप्रथम राज्यारोहण से पूर्व राजाओं की उपस्थिति स्पष्ट तौर पर परिलक्षित होती है। झारखण्ड में पड़हा पंचायत-व्यवस्था पहले से व्यवस्थित और गतिशील थी। प्रत्येक गाँव स्तर पर ग्रामवासियों के धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक आदि कार्यों के निर्वहण के लिए ग्रामवासियों द्वारा पड़हा का गठन किया जाता था। पड़हा पंचायत के संचालन के लिए पहान, महतो आदि का सर्वसम्मति से चुनाव होता था। कभी-कभी पहान को पड़हा राजा का संबोधन दिया जाता था। जिसे अनुचित नहीं माना जाता था। वास्तव में २१ पड़हा में एक पहान राजा का चुनाव होता था। उसका मुख्य काम प्रत्येक पड़हा के बीच तालमेल बैठाना, दूसरे २१ पड़हा के पहान राजाओं से सम्पर्क साधना तथा सामूहिक प्रकृति के कार्यों को सामूहिक रूप से निर्वहण कराना होता था। ऐसे में स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि नये राज्य के गठन का औचित्य क्या था? यदि कोई समस्या थी भी तो क्या पड़हा राजाओं द्वारा निर्वहण नहीं किया जा सकता था?

नये राज्यों का उदय अन्य क्षेत्रों में क्यों और किस परिस्थितियों में हुई इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। यहाँ पर यह उल्लेख करना जरूरी है कि भारत बड़ा देश होने के साथ भौगोलिक, ऐतिहासिक, भाषा-संस्कृति, धार्मिक मान्यताओं, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास की दृष्टि से विभिन्नताओं का देश रहा है। इन्हीं विभिन्नताओं के चलते भारत के विभिन्न क्षेत्रों का विकास विभिन्न कालों में विभिन्न रूपों में हुआ है। झारखण्ड में नये राज्य का उदय सांस्कृतिक कारणों से हुआ। झारखण्ड के विभिन्न-क्षेत्रों में विभिन्न स्तरों में जीवन यापन करने के साथ विभिन्न-क्षेत्रों में विभिन्न सांस्कृतिक समूहों से अन्तर्क्रिया और टकराव को व्यवस्थित करने के लिए देशी-विदेशी शासकों का झारखण्ड पर प्रहार और प्रसार हो रहा था। भारत के अन्य क्षेत्रों में राज्यों के उदय का मुख्य कारण आर्थिक और राजनीतिक था। कुछ राज्यों में राज्यों के उदय के बाद अन्य राज्यों में प्रसार करना भी था। ऐसी स्थिति में यदि झारखण्ड में यहाँ की जनजातियों ने नागों से मिलकर नये राज्य की स्थापना किया तो वह सर्वथा उचित था। यद्यपि कुछेक का मानना है कि झारखण्ड की जनजातियों के लिए यह एक ऐतिहासिक भूल थी। इसके संबंध में आगे भी चर्चा की गयी है।

इसवी सन् पहली सदी में मुण्डा और नागर्वंशियों का ब्राह्मणों से मित्रता के कारण काशी से ब्राह्मणों को बुला कर झारखण्ड में बसाया गया। उस काल में राजा मदरा मुण्डा का पुरोहित युद्धिष्ठिर दास थे। निःसन्देह इससे झारखण्ड में अन्य जातियों के प्रसार की शुरूआत हुई। इस तरह के अनेक उदाहरण दक्षिण के राज्यों में देखने

को मिलते हैं जहाँ जनजातियों के अभिजात समूहों ने शायद पुण्य कमाने के ख्याल से उत्तर से ब्राह्मणों को बुलाकर बसाने का काम किया। झारखण्ड में जन रचनायें तथा अन्य पहलुओं के संबंध में ज्ञान वृद्धि के लिए डॉ० विसेश्वर प्रसाद केशरी द्वारा कृत “छोटानागपुर का इतिहासः कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ” देखा जा सकता है जिसमें डॉ० केशरी ने विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है।

ईसवी सन् की पहली सदी से झारखण्ड में विभिन्न जातियों तथा गैर जातियों के प्रवेश के अध्ययन से जो चित्र उपस्थित होता है उसे तीन भागों में बाँट कर देखना अच्छा होगा।

1. भारत के अन्य क्षेत्रों से जनजातियों तथा तृतीय और चतुर्थ वर्ण के लोगों का झारखण्ड में शरण लेने के कारण से।
2. प्रायः सभी राज्य तथा साम्राज्यों ने अपने सैनिक बल के आधार पर झारखण्ड के राजाओं को बस में करके धन-जुटाने के ख्याल से अपने बफादार सैनिक सरदारों, अधिकारियों आदि को पदासीन करने से।
3. भारत की स्वतंत्रता के बाद केन्द्र और राज्य सरकारों द्वारा अपनायी गयी गलत नीतियों के फलस्वरूप।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि पहली सदी से अन्य क्षेत्रों से लोगों का झारखण्ड में आना शुरू हुआ वह कभी रुका ही नहीं। ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार दोआब गंगा के मैदानी तथा मगध क्षेत्रों में नये-नये राज्यों तथा साम्राज्यों के उदयोपरान्त अपना-अपना आधिपत्य और प्रसार के लिए जो लूट-पाट, हिंसा, विघ्वंस आदि से विलोचन की स्थिति बनी हुई थी ऐसी परिस्थिति में बिखरी हुई जनजातियाँ तथा चतुर्थ वर्ण और तृतीय वर्णों के लोग जो उच्च वर्णों की सेवा और उत्पादन के कार्यों में लगे हुए थे उनका जीवन यापन करना दुष्कर हो गया होगा और अपनी जान बचाने के लिए जब कभी अवसर मिला ये छिपते-छुपाते, भागते झारखण्ड में शरण लेते थे। बंगाल में पठानों के राज्य-पतन के बाद पठान सैनिकों के एक दल ने झारखण्ड में शरण लेकर जान बचायी। बस्तियार खिलजी के गौड़ अभियान के समय रोहतास क्षेत्र से बड़ी संख्या में उराँवों ने झारखण्ड में प्रवेश किया। अकबर के राज्यकाल में चेरो जनजाति ने झारखण्ड में प्रवेश कर पलामू में राज्य स्थापित कर लिया। खरवार जनजातियों का एक विशाल समूह उनके साथ आकर झारखण्ड में बस गया। कालक्रम में पाश्ववर्ती क्षेत्र के लोग विभिन्न उद्देश्यों से झारखण्ड में प्रवेश कर बसते रहे। मेरे परिवार का भी इतिहास है कि हमारे पूर्व अन्य परिवारों के साथ मिलकर झारखण्ड के हजारीबाग के बड़कागाँव से कुछ दूरी में जंगलों से आच्छादित पहाड़ों के तराई में मिर्जापुर नाम से ही गाँव बसा कर बस गये। मिर्जापुर में पीढ़ियों तक वास करने के बाद अपना बसाया

गाँव छोड़ दिया। गाँव छोड़ने के बाद उनका दूसरा पड़ाव पतरातू-घाटी की तराई में राढ़ा गाँव के नजदीक था। राढ़ा में वे बहुत समय के लिए नहीं रहे। वहाँ अपने कुछ जानवरों को एक मुण्डा परिवारों के यहाँ छोड़ कर राँची जिला के बेड़ो थाना के टेरो में बस गये। मेरे बालवस्था तक हमारा राढ़ा गाँव से उन मुण्डा परिवारों से सम्पर्क बना हुआ था।

झारखण्ड का समाज, संस्कृति और अस्मिता

मानव सभ्यता के उद्गम स्थानों में भारत एक प्रमुख देश है। सदियों तक भारतीय मानव इतिहास और संस्कृति की धूरी गंगा-यमुना का मैदानी क्षेत्र तथा मैदानी क्षेत्र से हट कर बिंध्य पार दक्षकन और सुदूर दक्षिण बना रहा। काल-क्रम में इसका भारत के अनेक क्षेत्रों में विकास हुआ। जहाँ तक झारखण्ड का प्रश्न है, भौगोलिक दृष्टि से यह सदियों तक भारत के अन्य-क्षेत्रों से कटा रहा। इसका अर्थ यह नहीं है कि झारखण्ड में बसने वाली जनजातियों का समाज क्रियाशील नहीं था। भौगोलिक परिवेश में उनकी प्रवृत्ति, वृत्ति, रीति, आहार, विहार, सामाजिक व्यवहार, भाषा, आर्थिक कार्य-विधियां, कलात्मक अभिव्यक्तियों आदि की छान-बीन तथा अध्ययन से ऐसी जानकारियाँ मिलती हैं जिसके तहत अनुपम सामाजिक संरचना तथा सांस्कृतिक विकास की रूप-रेखा मिलती है। डॉ० गिरिधारी राम गौड़, पूर्व विभागाध्यक्ष, जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा-विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची के अनुसार झारखण्ड का पुरातत्व प्रमाण देता है कि यहाँ आदि मानव का वास लम्बे समय तक रहा था। तथा पाषाण काल के तीनों युग वृहद, मध्य एवं लघु पाषाण औजार यहाँ प्राप्त हुए हैं और अभी भी प्रचुर मात्रा में हो रहे हैं। आरंभ में आदि मानव अरण्य युग में पशुओं की भाँति रहती थी। धीरे-धीरे बानर, हनुमान, बनमानुष, लंगूर आदि के हाथों के प्रयोग करते देख हाथों का प्रयोग करने लगे। जो भी ढेले, पथर, लकड़ी मिलते उसका उपयोग वे फेंकने, मारने, पटकने, कुचलने, दबाने, रगड़ने आदि में करने लगे।

पथरों को पटककर तोड़ने या बड़े पथरों से छोटे पथरों को तोड़ने से टूटे पथरों के किनारे भाग के तेजधार और नुकीले भाग का उपयोग काटने, छेद करने या चपटे धारावाले पथरों को लकड़ी में बांध कर कुलहाड़ी की तरह उपयोग करने लगे थे। नुकीले छोटे पथरों को डंटी के अग्रभाग में बनलता के रेशों या लतर से बांध कर तीर, भाला, बरछा का उपयोग पशु-पक्षियों को मारने में करने लगे थे। तो कुछ जमीन खोदने या लकड़ी में छेद करने या काटने का काम करने लगे थे। ये पाषाण युग, आरण्य युग या जंगल काल, पशु-पक्षियों के शिकार करने का समय था।

पथरों के टकराने या पथरों पर उच्चार्ड से पथरों के गिरने से चिनगारी निकलने या आग पकड़ने, आग पकड़ने से सूखे पत्तों में आग लगने की जानकारी भी हो गई थी। आग से इन्हें पशु-पक्षियों के माँस पका कर खाने या रात्रि में पत्तों, लकड़ियों को जलाकर अंधेरा दूर करने का ज्ञान प्राप्त हो गया था। फिर लकड़ी या पथरों के गोलाकार आकृति से लुढ़कने, लुढ़काने का आसान तरीके की जानकारी मिली। जिससे चक्के का आविष्कार हुआ। आग और चक्के की जानकारी या आविष्कार से एक नयी सभ्यता का आरम्भ हुआ।

इसी तरह शिकार में पकड़े पशु-पक्षियों की अधिकता से कुछ पशु-पक्षियों के शिशु, शावक प्राप्त हुए तो पशुपालन का ज्ञान प्राप्त हुआ। ये जंगल के कुछ पशु-पक्षियों का पालन करने लगे। इसके बाद जो फल खा कर जो बीज ये जहाँ फेकते थे वहाँ नये पेड़-पौधे निकले और फल-फूल प्राप्त होते देखे, तब खेती करने का ज्ञान प्राप्त हुआ। आदि मानवों द्वारा पत्थर के औजारों से जमीन खोदकर बीज डाल कर खेती आरंभ किया गया।

कभी ताम्र अयस्क पत्तें या लकड़ियों की आग के सम्पर्क से पिघल कर जमीन या चट्टान पर चपटे फैल गये तो कुछ नुकीले बन गये। जब आदि मानवों को ये पिघले चपटे या नुकीले धार वाले धातु का पता चला तो उस पत्थर की पहचान कर लोग ताम्र अयस्क पिघला कर कुछ औजार, टांगी, बरछी, तीर, तलवार आदि के रूप में ढालने के साथ गहने बनाने का भी काम करने लगे। ये तांबा पत्थरों के औजारों से अच्छा था पर इसका धार जल्दी बोथड़ा या झुक जाता था। तब भी ताम्र युग धीरे-धीरे विकसित होता गया और ताम्रयुग का श्रीगणेश हुआ। ताम्र औजार और गहने आदि के अनेक प्रमाण प्राप्त हुए हैं और अभी भी हो रहे हैं।

ताम्बे के समान जब लौह अयस्क जंगल में आग के सम्पर्क के कारण पत्थरों या मिट्टी पर कुछ चपटे, कुछ नुकीले तथा कुछ छुरी आदि के आकार में पसर गये होंगे। इसकी आदि मानवों ने पहचान की और लौह पत्थरों से लोहा निकालने का काम आरंभ किया। असुरों और विरजिया जनजातियों को इस कार्य में दक्षता प्राप्त थी। लोहे के आविष्कार करने वाले असुर लोहे के पहले वैज्ञानिक हुए।

लोहे के आविष्कार से नयी सभ्यता-संस्कृति का विकास तेजी से होने लगा। कृषि-कुटीर उद्योग, सामाजिक तथा सांस्कृतिक जीवन में प्रत्याशित वृद्धि देखी गयी। लोहे के औजारों से कृषि कार्यों को सम्पन्न करने में काफी सहायता मिली। इससे कृषि क्षेत्र में फैलाव तथा उत्पादन दोनों में वृद्धि हुई। कुछ सदियों में ही लोहे का कुटीर उद्योग ज्ञारखण्ड के प्रायः हर गाँव में स्थापित हो गये। लोहे के औजार, बाँस, चमड़ा, कपड़ा, पौधों के बीज से तेल निकालने, माटी से समाज के आवश्यकतानुसार समान बनाने का अनेक कुटीर उद्योग स्थापित हुए। इससे ज्ञारखण्ड में नवीन सभ्यता-संस्कृति का विकास हुआ। इन उद्योगों में लगे लोगों ने इन उद्योगों को स्थापित करने में जो ज्ञान और कुशलता का परिचय दिया है आज भी आधुनिक भारत के लोगों के लिए ज्ञान प्राप्त करने के लिए अनमोल निधि के रूप में कहीं न कहीं छिपे बिखरे पड़े हैं। कालक्रम में इन उद्योगों से जुड़े लोगों को पेशा के आधार पर उन्हें जाति का नाम दिया गया जैसे-लोहा का काम करने वाले को लोहरा, लोहा गलाने वालों को असुर, लोहड़िया, बाँस का काम करने वालों को तूरी, कपड़ा बनाने वालों को स्वाँसी, चीक, पौँड़, ताँती, लकड़ी के काम करने वाले को बढ़ई, माटी के काम करने वालों को कुम्हार, बीजों से तेल

निकालने वालों को तेली, धातु को गलाकार समान बनाने वालों को मलार, कसेरा, ठठेरा, चमड़ा का काम करने वालों को मोची या चमार, बाजा बनाने और बजाने वालों को घासी, गोड़ाईत, महली आदि। इस तरह पूरा झारखण्डी समाज अपनी-अपनी ज्ञान-कुशलता के आधार पर सामाजिक तथा कलात्मक वस्तुओं के निर्माण कार्य में सहज और स्वाभाविक रूप में लगा रहा। समाज का हर व्यक्ति या समूह एक दूसरे व्यक्ति या समूह का लाभ लेते थे। समाज में इस तरह जातियों के पेशा/काम के आधार पर सामाजिक-व्यवस्था कायम हुई। समाज में हर उत्पादन या निर्माण या सेवा को आवश्यक माना गया। समाज में हर व्यक्ति, हर जाति को आदर और सम्मान दिया जाता था। बड़ा-छोटा, छूत-अछूत की भावना झारखण्ड में कभी भी उत्पन्न ही नहीं हुई। सामाजिक जीवन सामूहिक था। समाज में सामाजिक और सामूहिक, जीवन को समरस बनाने के लिए, हर जाति, पेशा, गोत्र, अवस्था के लोग एक दूसरे से सहिया-मितान, करमडाईर आदि से जोड़ कर सामाजिक जीवन हमेशा-हमेशा के लिए, पीढ़ी-दर-पीढ़ी के लिए बंध जाते थे और सहिया माँ, बाबा, दादा, दीदी, बेटा, बेटी, भाई, बहन बनते जाते थे।

सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक जीवन को सुव्यवस्थित रखने के लिए पड़हा-पंचायत होता था। गाँधीजी का हिन्द स्वराज हो, ग्राम-पंचायत हो या ग्रामोदय, सर्वोदय का राम राज हो झारखण्ड राज्य में पहले से, हजारों सालों से विद्यमान था।

धर्म, समाज, भाषा और संस्कृति

ईसवी सन् के पूर्व झारखण्ड पूर्णतः आदिवासी-सदान क्षेत्र था। 1991 की जनगणना में भारत में 62 जनजातियों की पहचान की गयी, इसमें आधी से अधिक जनजातियाँ झारखण्ड की थीं। अभी भी कुछ जातियाँ ऐसी हैं जिनकी पहचान नहीं हो पायी है और पहचान के लिए जाँच-पड़ताल चल रही है। डॉ० बी०पी० केशरी के अनुसार कुछ गैर आदिवासी जातियाँ ऐसी हैं जो अतिप्राचीन काल से रहती आ रही हैं। कुछ हाल-फिलहाल में बसते जा रहे हैं। हाल में बसने वाली जातियाँ और पहले से रहने वाले जातियों (आदिवासियों और सदान जातियों) उनका कार्य, भाषा संस्कृति आदि का झारखण्डीकरण हो चुका है। अतः धर्म, समाज, भाषा और संस्कृति को समझने की चर्चा अलग-अलग करना श्रेष्ठर होगा।

झारखण्ड का प्रमुख धर्म ‘आदि धर्म’ है। आदि धर्म के संबंध में डॉ० रामदयाल मुण्डा का मानना है कि यह सृष्टि के साथ स्वतः स्फूर्त है, कालातीत है। किसी अवतार, मसीहा या पैगम्बर पर आश्रित नहीं है। परमेश्वर (सिंडबोंगा, बान्दोबोंगा, धर्मेश आदि) सृष्टि के श्रष्टा हैं। प्रकृति तथा प्रकृति के सभी विशिष्ट अवयवों- वन, पहाड़, नदी, मैदान, पशु-पक्षी, नर-नारी आदि सभी परमेश्वर द्वारा सृजित और रक्षित हैं। परमेश्वर अपना सामाजीकृत स्वरूप से मनुष्यों के साथ बंधा हुआ है। प्रकृति के विशिष्ट अवयव वन-पहाड़ इत्यादि परमेश्वर का घर जैसी हैं। कृत्रिम संरचनायें-मन्दिर, मसजिद, गिरजा इत्यादि बिल्कुल आवश्यक नहीं हैं। समाज सम्मत काम ही पुण्य है और समाज विरोधी काम पाप। मनुष्य मृत्यु उपरान्त स्वर्ग-नरक कहीं नहीं जाता। सामाजिकता ही स्वर्ग और असामाजिकता नरक है। झारखण्ड या अन्य क्षेत्रों में रहने वाले सभी आदिवासी समुदायों का यह मानना है कि मृतक आत्मा का अनुष्ठान के बाद छाया रूप में घर वापसी होता है। सृष्टि के सभी अवदानों सजीव-निर्जीव के साथ समानता और पारस्परिक समान बोध के आधार पर सहस्तित्व इनके लिए सबसे महत्वपूर्ण है। जाति, धर्म, पेशा, नस्त इत्यादि के आधार पर भेद-भाव करने तथा एक-दूसरे से श्रेष्ठ मानने की धृष्टता ये नहीं करते।

आदि-धर्म के बाद दूसरा धर्म हिन्दू-धर्म है। हिन्दू धर्म में चारों वर्णों के अनुयायी आते हैं। हिन्दू धर्म के अनुयाइयों में वैश्य वर्ण के लोग हिन्दू धर्म के सभी देवी-देवियों को सहवद्यता से मानते हैं। विवाह और मृत्यु उपरान्त शाङ्क-कार्य, ब्राह्मण द्वारा सम्पन्न कराये जाते हैं। प्रायः वैश्य परिवारों में कुछ देवता, देवियाँ स्थापित होते हैं। अनुष्ठान कार्यक्रम घर के मुखिया द्वारा सम्पन्न किया जाता है। ये अपने पुरोहितों को बहुत सम्मान देते हैं और जात-पात के भेद-भाव से अपेक्षाकृत कम ग्रसित हैं। आदि धर्म के अनुसार इनमें भी जाति, धर्म, पेशा, नस्त इत्यादि के आधार पर भेद-भाव करने तथा एक दूसरे से श्रेष्ठ मानने की धृष्टता नहीं के बराबर है। जीवन

निर्वाह के दैनिक कार्यों तथा स्वभाव के चलते सामाजिकता इनके जीवन में कूट-कूट कर भरी होती है। ब्राह्मणों का हिन्दू समुदाय में काफी आदर सम्मान दिया जाता है। इसका कारण निसन्देह यह रहा हो कि समाज में टी०वी०, रेडियो, समाचार पत्र के अभाव में पुरोहित अपने-अपने जजमानों का एक अभिभावक की भूमिका निभाते रहें और कृषि-कार्य से लेकर विवाह का लगन-विधि यात्रा का शुभ दिन, दोपहर, नक्षत्रों, ऋतुओं आदि के संबंध में जजमान को जानकारी देना पुरोहितों का काम रहा। ज्ञारखण्ड के पुरोहितों की अपनी जीविका के लिए कोई खास अन्य विकल्प नहीं थे। मन्दिरों की संख्या नहीं के बराबर थी। दोआब गंगा धाटी में सालों भर चलनेवाले यज्ञों आदि का तो ज्ञारखण्ड में सर्वथा आभाव था। इन परिस्थितियों में पुरोहित समुदाय ने बहुत ही बुद्धिमानी का परिचय दिया और नयी भौगोलिक परिवेश और सामाजिक परिस्थितियों में अपने और अपने धर्मों की रक्षा करने में अग्रणी रहे। ज्ञारखण्ड में नागवंशियों के अतिरिक्त बंगाल और दक्षिण के प्रदेशों के अनुरूप राजन वर्ग का कभी उदय हुआ ही नहीं।

ज्ञारखण्ड में तीसरा प्रमुख धर्म इस्लाम है। इस्लाम धर्म का प्रचार-प्रसार विशेषकर बारहवीं सदी से यहाँ के आदिवासियों और सदानों की जातियों के धर्मातरण से हुआ है। धर्मातरण के बाद इस्लाम धर्म कबूल करने के बावजूद उनका मूल समाज से किसी न किसी प्रकार संबंध बना रहा। इन धर्मों के साथ ज्ञारखण्ड में बौद्ध, जैन धर्म को मानने वाले भी हैं लेकिन इन दोनों धर्मों का प्रचार-प्रसार नहीं होने से ज्ञारखण्डी समाज में कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कुल मिलकार देखें तो सभी प्रमुख धर्मों की सामाजिकता पर जोर रहा। अतः यह कहना अतियुक्त नहीं होगी कि ज्ञारखण्ड में सामाजिकता भी एक बड़ा धर्म है।

ज्ञारखण्ड में नागपुरी, मुण्डारी, कुडुख, खडिया, संताली, हो, कुरमाली, पंचपरगनिया, खोरठा आदि नौ स्थानीय भाषायें बोली जाती हैं। ये सभी भाषायें जीवन्त हैं। इन सभी भाषाओं के अतिरिक्त, ज्ञारखण्ड के व्यक्तियों के नाम, कुलों के नाम, रीति, रिवाज, मेला-जतरा, विभिन्न प्रकार के नृत्य-संगीत, पहनावे, पर्व, उत्सव भाषाओं के सूक्ष्म अध्ययन ज्ञारखण्ड के इतिहास की अनेकानेक परतों को खोलते हैं। ये ज्ञारखण्डी समाज में रहने वालों के आपसी संबंधों, उनकी विशेषताओं, आचार-व्यवहार, आर्थिक विधियों, धार्मिक आस्थाओं और मान्यताओं को अभिव्यक्त करती हैं। इन भाषाओं की प्राचीनता या समझ नहीं पाने के कारण इन्हें अस्वीकार नहीं किया जा सकता है जैसा कि सतपथ ब्राह्मण जैसे वैदिक ग्रन्थों में हुआ है। असुरों की बोली-भाषा को समझ नहीं पाने से उन्हें म्लेच्छ कहा गया तथा उन्हें वाक्य शक्ति से हीन समझा गया। अर्थात् उनकी बोली-भाषा को अस्वीकार किया गया। इसके बावजूद ज्ञारखण्ड में ही नहीं अपितु भारत के विभिन्न क्षेत्रों में क्षेत्रीय भाषायें प्राकृत रूप में विकसित होती रहीं। हो सकता है बाहर की भाषाओं का दबाव और प्रभाव इन भाषाओं के विकास में

पढ़ा हो, लेकिन सब कुछ उन बाहरी भाषाओं के चलते हुआ यह कहना सर्वथा अनुचित है। कोई भी बाह्यशक्ति किसी क्षेत्र, भाषा-संस्कृति को गहराई तक जा कर प्रभावित नहीं कर सकती। झारखण्डी भाषाओं की गतिशीलता के विकास के अनेक स्रोत हो सकते हैं। लेकिन जब तक हड्डपाई भाषा को पढ़ा नहीं जाता तब तक झारखण्डी भाषाओं के मूल स्रोत और विकास के संबंध में अधिकारिक तौर पर कुछ कहना कठिन है। भाषाविद्वाँ का मानना है कि झारखण्डी भाषाओं का द्रविड़ कुल की भाषा तमिल, मलयालम, कन्नड़, आदि से बहुत साम्य है।

भाषा के संबंध में यह उल्लेख करना जरूरी है कि हाल के सर्वेक्षण के आधार पर 325 भाषा परिवार के लोग हैं। आधे से अधिक समुदाय ऐसे हैं जो कम से कम दो भाषा बोलने वाले हैं। पश्चिम बंगाल जैसे राज्य और अंडमान एवं निकोबार द्वीप समूह जैसे केन्द्र प्रशासित तथा असम जैसे राज्यों में 06 तथा 06 से अधिक भाषाओं का प्रयोग होता है। यह आश्चर्य का विषय नहीं है कि झारखण्ड में नौ प्रमुख भाषाओं का प्रयोग होता है। झारखण्ड में प्रायः प्रत्येक भाषाई परिवार के लोग कम-कम से दो भाषाओं का प्रयोग करते हैं। कुडुख भाषाई परिवार कुडुख भाषा के साथ नागपुरी भाषा का प्रयोग करते हैं। सदानी(नागपुरी) भाषा परिवार के बहुत से लोग हैं जो नागपुरी भाषा और कुडुख भाषा का प्रयोग करते हैं। मुण्डा और कुरमाली भाषा परिवार के लोग एक दूसरे की भाषा का प्रयोग करते हैं।

इतिहास के लम्बे दौर में झारखण्ड के विभिन्न धार्मिक भाषाई, सामाजिक, सांस्कृतिक समुदायों का एक दूसरे से अंतःक्रिया कैसे हुई उसे दर्शाना तथा लम्बे दौर का सामाजिक, सांस्कृतिक रूपान्तर का अध्ययन करना और तस्वीर गढ़ना बहुत ही कठिन काम है। दोआब-गंगा घाटी में जनजातियों और आर्यों के साथ कैसे समन्वय हुआ, इसकी कुछ झलक पहले देख चुके हैं। ऋग्वैदिक काल में तो आर्यों ने जनजातियों के पुरुष वर्ग की हत्या कर महिलाओं को अपने साथ कर लिया। उत्तर वैदिक काल में बन्दी बना कर शूद्र वर्ण को अन्य तीनों वर्णों की सेवा करने में लगाया। वैदिक काल के बाद के काल में हिन्दुत्व के आलिंगन में कसकर आदिवासियों के धार्मिक वैशिष्ट्य को दफनाना था इसलिए आदिवासियों के अनेक धार्मिक विश्वासों तथा आचार-विचार को हिन्दू धर्म का हिस्सा बनाया गया।

600 ई० पू० से ईसा सन् के 16वीं सदी तक भारत के अन्य क्षेत्रों/प्रदेशों से आकर झारखण्ड में बसने वालों में प्रमुख तौर से दो प्रकार की जाति-समुदाय के लोग थे- एक आदिवासी समुदाय के लोग जैसे- मुण्डा, उराँव, खरवार, चेरो आदि और दूसरा सदान जातियाँ जैसे- नागवंशी, लाल ठाकुर, रक्सेल राजपूत, तेली, कोईरी, बनिया आदि। झारखण्ड में आदि काल से रह रहे मूल आदिवासी-सदान और बाद में आकर बसने वाले आदिवासी तथा गैर-आदिवासी जातियों के बीच समन्वय की प्रक्रिया

कैसे हुई, यह दर्शाना कठिन काम है। इतिहास या ज्ञारखण्ड के लोक-गीतों या लोक कथाओं में आदिकाल से रह रहे आदिवासियों और बाद में आकर बसने वाली जाति समुदाय के बीच किसी प्रकार का संघर्ष की जानकारी नहीं मिलने से यह कहा जा सकता है कि यहाँ समन्वय की प्रक्रिया निःसंदेह शान्ति और बहुत समझदारी पूर्वक हुई होगी। इतिहास के लम्बे दौर के दौरान ज्ञारखण्ड में भिन्न-भिन्न भाषाओं के बोलने वालों, भिन्न-भिन्न धर्मों का अनुसरण करने वालों भिन्न-भिन्न सामाजिक मान्यताओं को अपनाने वालों, भिन्न-भिन्न वेश धारण करने वालों, अलग-अलग आचार-विचार एवं अहार करने वालों द्वारा ज्ञारखण्डी संस्कृति की अविरल धाराओं का निर्माण और पोषण किया गया है।

ज्ञारखण्ड के सभी समुदायों ने ज्ञारखण्ड के आदि-विचारों, सामूहिकता, सहभागिता, समानता, सामाजिकता आदि विचारों को बढ़ाया है, ज्ञारखण्ड के गीत-संगीत तथा कलाओं को परिष्कृत और आगे बढ़ाने का काम किया। भेद-भाव, ऊँच-नीच से ग्रसित जाति-व्यवस्था का ज्ञारखण्डी समाज में कोई स्थान नहीं दिया गया। इसमें ज्ञारखण्ड के हिन्दू धर्म के अनुसरण करने वालों की अहम भूमिका रही है। ज्ञारखण्डी संस्कृति आदिकाल से प्रकृत रूप से विकसित और परिवर्तित होती रही है। इसे अन्य किसी संस्कृति का पर्याय रूप में देखना या दिखाने का प्रयास करना सर्वथा अनुचित है।

ब्रिटिश औपनिवेशिक काल में झारखण्ड में सामाजिक एवं जातीय स्थिति

अपने अन्तिम विजय अभियान से अंगरेज शासकों ने 13 सितम्बर 1858 को दिल्ली सल्तनत के मुगल बादशाह को कैद करके दिल्ली की सत्ता हासिल कर ली। इसी के साथ पूरे भारतवर्ष की राजकीय सत्ता ब्रिटिश संसद और सरकार के प्रत्यक्ष नियंत्रण में आ गयी। ऐसे इसके पूर्व ही भारत के सभी प्रान्तों में अंगरेजी शासकों का शासन स्थापित हो चुका था।

12 अगस्त 1765 ई० में अंगरेजों को बिहार, बंगाल, उड़ीसा एवं छोटानागपुर की दीवानी मिल गयी थी। उस समय झारखण्ड, बिहार, उड़ीसा, बंगाल, की दीवानी के अन्तर्गत था। उस समय झारखण्ड में अनेक छोटे-बड़े राजे-महाराजे थे। अंगरेज शासकों ने उन्हें पदों से हटाया तो नहीं था लेकिन राजनीतिक शक्ति से वंचित कर दिया था। उन्हें अंगरेज शासकों द्वारा तय सालाना कर देने तथा उनके द्वारा बनाये गये नियम-कानूनों का पालन करने के शर्त पर उन्हें अपने पदों में रहने दिया गया था।

झारखण्ड के राजा-महाराजाओं को बस में करने के बाद अंगरेज शासकों ने पूँजीवादी देश इंग्लैण्ड की आवश्यकताओं के अनुसार, झारखण्ड की आर्थिक, सामाजिक तथा धार्मिक-व्यवस्था को रूपान्तरित करना शुरू कर दिया। भूमि संबंधी ‘बिक्री-कानून’ तथा स्थायी बन्दोबस्ती कानून बनाया। इसका मुख्य उद्देश्य था झारखण्ड की जमीन तथा अन्य सम्पदा जैसे- जल, जंगल, पहाड़, परती जमीन आदि जो समुदायों और किसानों के अधीन थे, उससे यहाँ के लोगों को बेदखल कर अंगरेज शासकों के अधिकार में लाना।

कभी-कभी जर्मीदार एवं किसानों की घोर गरीबी तथा अन्य वजहों से लगान की निर्धारित आवश्यक रकम वसूल नहीं पाते थे। फलस्वरूप राजस्व की अदायगी न कर पाने पर जर्मीदारों की जमीनधारियों की नीलामी द्वारा जमीन बिक्री करना आम बात हो गयी थी। नीलामी से बिकने वाली जमीन शहर के धनी वर्ग, बाहर के वैसे लोग जैसे सूदखोर, महाजन जिन्हें विश्वास होता था कि किसानों से आसानी से नहीं तो लाठी के जोर पर कर वसूल सकते थे, ने खरीद लिया। इस प्रकार झारखण्ड में जालीम जर्मीदारों, सूदखोरों, महाजनों का एक नया वर्ग का उदय हुआ। कुमार सुरेश सिंह ने ‘बिरसा मुण्डा और उनका आन्दोलन’ में बताया है कि “अंगरेजों ने जिस भू-व्यवस्था को प्रश्रय दिया उससे यहाँ की पारंपरिक व्यवस्था धीरे-धीरे सर्वथा छिन्न-भिन्न होने लगी और बाहर से आकर बसने वाले दिकू, ठीकेदारों तथा जागीरदारों की बनती गयी। वे अपने पट्टों के बल पर भुँझहरी और खुटकटी जमीनों पर जोर-जबरजस्ती से कब्जा करने लगे। पहले बैठ-बेगारी कर का सीधा उपाय था।

अब इसमें मनमानी होने लगी। नये लोगों ने इसका दुरुपयोग करना शुरू किया। वे नगद कर के भूखे थे। अतः यहाँ के लोगों को, विशेषतः आदिवासियों को कमाने के लिए असाम-बंगाल जाना पड़ा। उनका जीवन क्रम विघृंखलित हो उठा।” लगान वसूली के चलते झारखण्ड की पारंपरिक व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने में उनका ध्येय यह भी था कि झारखण्ड के किसानों को अधिक से अधिक संख्या में जमीन से बेदखल करके मजदूर बनाया जाये जिससे ब्रिटिश पूँजीपतियों द्वारा असाम-बंगाल तथा अन्य प्रदेशों में स्थापित चाय बगानों में मजदूरों की आवश्यकता को पूरा किया जा सके। असाम, बंगाल, अंडमान निकोबार में आज ऐसी सैकड़ों बस्तियाँ हैं जहाँ केवल झारखण्ड के लोगों का बास है। सिलीगुड़ी के ऐसे तीन गाँवों में मुझे जाने का मौका मिला। देखकर लगा कि मैं अपने झारखण्ड के गाँवों में आया हूँ।

जमीदारों, महाजनों तथा सूदखोरों ने झारखण्ड के किसानों का दरिद्रीकरण कर दिया था। किसानों के दरिद्रीकरण ने किसानों को हथियारबन्द विद्रोह करने के लिए विवश कर दिया। फलतः इस काल में विद्रोह पर विद्रोह होने लगे।

मुख्य विद्रोह में कोल विद्रोह एक था। इसका तात्कालिक कारण था जरियां गोविन्दपुर के जमीन्दार हरनाथ शाही ने सिंहराय मानकी के बारह गाँव, सिक्खों को बन्दोबस्त कर दिया था, जिसने उसकी दो बहनों को भी भगा लिया था। ऐसी ही घटना सिंहभूम के सुरगा मुण्डा के साथ भी घटी।

गंगा नारायण विद्रोह- यह मानभूम में भूमियों का विद्रोह था। इनका नेतृत्व गंगा नारायण ने किया था।

संताल विद्रोह- संताल क्षेत्र प्रत्यक्ष रूप में अंगरेजों के कब्जे में था। इस विद्रोह का तात्कालिक कारण ब्रिटिश शासन में व्याप्त अष्टाचार था। कचहरी के अमला, मुख्तार, बरकन्दाज आदि जो प्रदेश के बाहर के थे संतालों को बुरी तरह से लूट रहे थे। फौजदारी मामले में उन्हें भागलपुर जाना होता था जो उस काल में एक कठिन काम था। विद्रोह का नेतृत्व सिदो, कान्हू, चाँद और भेरों चार भाइयों ने किया। हजारीबाग में लुविया माँझी, बैक माँझी और अर्जुन माँझी ने नेतृत्व किया। मांडु, हजारीबाग के तीन जमीन्दारों को माँझियों का साथ देने के चलते अंगरेजों ने फाँसी में लटका दिया।

भुईया टिकैतों का विद्रोह - हजारीबाग के उत्तरी भाग में भुईया टिकैतों का विद्रोह नवागत महाजनों एवं ठीकेदारों से जमीन मुक्ति के लिए विद्रोह था।

इसके बाद दो बड़ी जनक्रान्तियाँ हुईं। एक 1857 की जनक्रान्ति तथा दूसरा बिरसा आन्दोलन। इन दोनों आन्दोलनों के संबंध में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध हैं। बिरसा विद्रोह का प्रमुख तौर पर दो लक्ष्य थे। पहला झारखण्ड के लोगों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में अपनी जमीन की रक्षा तथा परम्परागत राज्य की पुनर्स्थापना।

यह इसका राष्ट्रीय पक्ष था। दूसरा आदि धर्म की रक्षा करना था। जातीम जमीन्दारों, महाजनों तथा सूदखोरों वर्ग के साथ उस अवधि में और एक नया वर्ग का उदय हुआ था वह नया वर्ग ईसाई पादरियों का था। उनका मुख्य काम अंगरेज शासकों से मिलकर आदिवासियों की जमीन को नीलामी से बचाने, नीलाम जमीनों को वापस कराने तथा कोट-कचहरी के चक्कर से बचाने के नाम पर अधिक से अधिक संख्या में आदिवासियों को ईसाई धर्म में रूपान्तर करवाना था। डॉ० कुमार सुरेश सिंह ने इस संबंध में 'बिरसा मुण्डा और उनका आन्दोलन' में उल्लेख किया है- "ईसाई मिशनरियों का उनपर (आदिवासियों) बड़ा घातक प्रभाव पड़ा। आदिवासी लाखों की संख्या में ईसाई बनाये जा रहे थे। ईसाई आदिवासी और गैर-ईसाई आदिवासी की दरार उनके पड़हा, पंचायत, अखरा, गितिओड़ा, धुमकुड़िया जैसे सांस्कृतिक केन्द्रों को तोड़ रही थी। बिरसा आन्दोलन का यह धार्मिक पहलू था।"

अंगरेजों का “फूट डालो और राज करो” की नीति

झारखण्ड के विद्रोहों को दबाने में अंगरेज सफल रहे। झारखण्डियों में ‘फूट डालो और राज करो’ की अपनी नीति का बखूबी इस्तेमाल किया। अंगरेजों को झारखण्ड की भू-व्यवस्था को ध्वस्त करना और राज भी करना था। यह यहाँ के किसानों में फूट डाल कर ही संभव था। इसके लिए, पहले उन्होंने बिक्री-कानून और संताली बन्दोबस्ती कानून बनाया। करों में बढ़ौती की, कर वसूली के लिए जालीम जमीनदारों, महाजनों, सूदखोरों की उपस्थिति को आवश्यक बनाया। जालीम जमीनदार, महाजन, सूदखोर तो अंगरेजों के गुर्गे थे। वे गुर्गे अंगरेजों के कर अदायगी और कुछ अपने तथा कुछ अपने लठैतों के लिए किसानों को भूमि हीन बनाया और दरिद्रीकरण किया। अंगरेजों ने अपने को साफ-सुधरा बताने के लिए बड़ी धूर्तता पूर्वक किसानों की विवशता के लिए बाहरी जालीम जमीनदारों, महाजनों, सूदखोरों पर दोष मढ़ दिया और उसमें झारखण्ड के सदानों को भी जोड़ दिया। इसका प्रचार-प्रसार जोर-शोर से करवाया। ईसाई मिशनरी जो उस काल में अंगरेज व्यापारिक शासकों के सहारे थे, इसमें अग्रणी भूमिका निभायी।

किसानों की जमीन का मामला था। इतना आसानी से दबने वाला नहीं था। इसलिए अंगरेजों को अनेक प्रशासनिक सुधार करना पड़ा। छोटानागपुर और संताल परगना टेनेन्सी एक्ट पास किया। इससे झारखण्ड के आदिवासियों को जखर कुछ राहत मिली। लेकिन झारखण्ड के किसानों को आदिवासी और सदान में बॉटने के ख्याल से सदान किसानों की जमीन के संबंध में कुछ नहीं किया। सोलर्वीं सदी तक झारखण्ड के किसानों में किसी प्रकार का विभाजन नहीं था। झारखण्ड की भू-व्यवस्था कानून सभी किसानों के लिए एक प्रकार का था। अंगरेजों ने किसान-किसान में विभेद कर बहुत बड़ा दुष्कर्म किया। यह वर्ण-जाति व्यवस्था से कम धातक नहीं था।

अंगरेजों ने 400 समूहों की एक सूची बनाई थी जिसे अछूत का नाम दिया। बाद में इस समूह को अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के रूप में जाना जाने लगा। 1970 के दशक में इनका दलित के रूप में नया नामकरण हुआ। झारखण्डियों के विभाजन के लिए अंगरेजों ने 1872 में पहली बार 18 जातियों को, 1931 में 26 को, 1953 में (भारत सरकार) 30 को, 2003 में 32 जातियों को जनजाति घोषित किया।

आजादी के बाद जाति नीति

स्वतंत्रता आंदोलन के साथ-साथ जातिगत अशक्ताओं को दूर करने का समानांतर प्रयास प्रारंभ हुआ। 19वीं सदी में ज्योतिराव फुले के प्रयास को गांधी जी और डॉ अम्बेडकर ने अपने-अपने तरीके से आगे बढ़ाया। आजादी के तत्काल बाद राष्ट्रप्रेम के प्रभामंडल ने जाति-व्यवस्था को तात्कालिक रूप से राजनैतिक पृष्ठभूमि में डाल दिया लेकिन शासकों व आभिजात्य वर्ग का गंठजोड़ राजनीति में शीघ्र ही नजर आने लगा। जातिगत आधार पर प्रत्याशीयों का चयन लगभग अपरिहार्य हो गया। धीरे-धीरे अनेक जातीय दलों का उदय हो गया। इन जातीय दलों ने दलितों में सामाजिक और राजनैतिक चेतना तथा उनकी भागीदारी बढ़ाने के साथ उनका कितना राजनीतिक इस्तेमाल किया यह अलग विषय है। लेकिन मंडल कमीशन और सरकारी प्रयासों से इतना तो अवश्य हुआ कि हीन भावना से जाति छिपाने वाले दलित अपना जाति बताने में गर्व करने लगे। दलितों के जातिगत चेतना और प्रतिकार की भावना ने वर्ग संघर्ष को जन्म दिया जिसका वीभत्स रूप मध्य बिहार में देखने को मिलता है। अनेक कानूनों के द्वारा जातिजन्य शोषण को दूर करने का प्रयास किया गया है जो कुछ हद तक सफल भी रहा है परंतु आज भी जातिजन्य शोषण का वीभत्स रूप नजर आ ही जाती है। आज भी अनेक मंदिरों में शूद्रों को प्रवेश की अनुमति नहीं है। वस्तुतः जातिजन्य शोषण समाप्त नहीं हुआ है बल्कि इसका स्वरूप बदल गया है।

परिवर्तन प्रकृति का नियम है और यह जाति-व्यवस्था में भी लागू होता है। जाति-व्यवस्था शोषण का माध्यम रहा है। हजारों साल की मानसिकता का समूल निराकरण के लिए कारण और इतिहास जानना-समझना आवश्यक है।

आजादी के पूर्व और बाद के झारखण्ड की राजनीतिक, सामाजिक एवं जातीय स्थिति

15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्रता आन्दोलन में झारखण्ड के लोगों ने भी अहम् भूमिका निभायी थी। इतिहास के लम्बे दौर में झारखण्डी समुदायों के बीच संजातीय तथा सांस्कृतिक एकता का निर्माण हुआ था, इसलिए झारखण्ड अलग प्रान्त की मांग आजादी के पूर्व से होती रही थी। भारत से अंगरेजों को जाने के बाद, यहाँ के लोगों का विश्वास था कि उनकी मांग अवश्य मान ली जायेगी। स्वतंत्र भारत में राज्यों के गठन के समय झारखण्ड को बिहार राज्य में समाविष्ट कर दिया गया क्योंकि झारखण्ड आजादी के पूर्व बिहार प्रान्त में समाविष्ट और प्रशासित था। इससे झारखण्ड के लोगों में असंतोष का उभरना स्वाभाविक था। ब्रिटिश-काल में गठित राज्य, प्रशासकीय और क्षेत्रीय विभाजन को तो अवश्य दर्शाते थे, लेकिन भाषाई, संजातीय एवं सांस्कृतिक क्षेत्रों को नजरअंदाज करते थे। इससे झारखण्ड सहित कुछ अन्य नवगठित राज्यों में असंतोष का उभार होने लगा। जुलूस, प्रदर्शन आदि गति पकड़ने लगे। इसे देखते हुए भारत सरकार ने 1955-56 में राज्यों के पुर्नगठन के लिए आयोग बनाया। इस बीच झारखण्ड अलग-प्रान्त की मांग करने वाली झारखण्ड पार्टी के नेता मरड गोमके जयपाल सिंह ने कांग्रेस पार्टी का दामन थाम लिया। आयोग के सामने झारखण्ड अलग प्रान्त की मांग के तथ्यों, तर्कों तथा कारणों को आयोग के समक्ष स्पष्ट किया गया। नहीं रखा जा सका। इस संबंध में डॉ० बी० पी० केशरी ने शंका जतायी है कि “संभवतः सत्य कुछ और ही हो।” इसका विश्लेषण करना यहाँ सम्भव नहीं है पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि अंगरेजों ने झारखण्डी समुदायों को आदिवासी और सदानों में बॉटने की जो नीति अपनायी थी उसके प्रभावों से झारखण्ड पार्टी मुक्त नहीं हो पायी थी। इसका परिणाम झारखण्डी जातीय चेतना पर पुनः अधात के रूप में मिला और झारखण्डियों को झारखण्ड अलग प्रान्त से वंचित होना पड़ा। झारखण्ड पार्टी से निकल कर दो और झारखण्ड नामधारी पार्टीयों का गठन हुआ, उनमें एक था बागुन सुमन्नुई का झारखण्ड पार्टी और दूसरा था जस्टिन रिचर्ड का हूल झारखण्ड पार्टी।

1956 के बाद झारखण्ड पार्टी ऊपर-ऊपर अलग झारखण्ड प्रान्त की मांग तो करती रही लेकिन झारखण्ड अलग प्रान्त की मांग को परदे के पीछे धकेल दिया गया था। औपनिवेशिक काल में एक समय जिस तरह स्वराज का मतलब स्वशासी ब्रिटिश उपनिवेशों द्वारा प्राप्त स्थिति के अनुरूप, ब्रिटिश साम्राज्य के ढाँचे के भीतर स्वशासन की प्राप्ति माना जाता था, उसी प्रकार झारखण्ड पार्टी का मुख्य उद्देश्य आदिवासियों को अधिक से अधिक सुविधायें उपलब्ध करना रह गया था। इसमें पार्टी को सफलतायें भी मिली। जिससे नेतृत्व को अदिवासियों को एकजुट रखने में सहायता

मिली पर राजनीति एवं समाज में सदान अलग-थलग हो गये। झारखण्ड में पड़हा पंचायत-व्यवस्था ध्वस्त होने के कारण वे समुदायिक नेतृत्व से पहले ही वंचित हो गये थे। उनका नेतृत्व करने वाला, दुख-कठिनाइयों को सुनने-सुलझाने वाले कोई नहीं रह गये थे। इतिहास के किसी काल में शायद ही सदानों की ऐसी निःसहाय स्थिति रही हो।

इसके साथ राजे-महाराजे तथा जमीदारों का एक जमात था। रियासत छीन जाने और जमीन्दारी प्रथा के उन्मूलन से वे पस्त हो गये थे। जो जमीन्दार स्वतंत्रता संग्राम के समय से परोक्ष या अपरोक्ष रूप से कांग्रेस पार्टी से जुड़े हुए थे, वे कांग्रेस पार्टी से उम्मीद लगाये हुए थे कि कांग्रेस सरकार झारखण्ड के लोगों के लिए अवश्य कुछ न कुछ करेगी। परिवर्तित नयी राजनीतिक स्थिति में यदि यहाँ के राजे-महाराजे चाहते तो झारखण्डी जनता का नेतृत्व कर सकते थे, लेकिन वैसा कुछ उन्होंने नहीं किया। केवल रामगढ़ के राजा कामाख्या नारायण सिंह ने 1946 में सक्रिय राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया। हजारीबाग में उनका अच्छा-खासा प्रभाव भी था लेकिन वे राजनीति में अधिक दिनों तक टिक नहीं पाये।

भारत के संविधान के तहत, राज्य की नीति के निर्देशक तत्व के अनुसार आजादी के बाद बिहार सरकार ने राज्य का कार्यभार संभाल लिया। झारखण्ड के लोगों की सारी आकाशायें बिहार राज्य सरकार से जुड़ी हुई थीं। बिहार राज्य सरकार द्वारा झारखण्ड में किये गये कार्यों के संबंध में उल्लेख करने के पूर्व यह जानना जरूरी है कि उस अवधि में बिहार राज्य की राजनीतिक, सामाजिक-व्यवस्था तथा संस्कृति क्या थी? यह जानना इसलिए जरूरी है क्योंकि आजादी तो मिली लेकिन लोगों का विचार-व्यवहार, काम करने के तौर-तरीके एक झटके में बदलने वाला नहीं था। कार्यों के निर्वहण स्पष्टतः दो समूहों में बँटा था। एक समूह उन लोगों का था जो भारत का संविधान में निर्देशित कर्तव्यों के तहत राष्ट्र और राज्य को आगे बढ़ाने वाले सतत् प्रयत्नों में व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से प्रयत्नशील थे और दूसरा समूह उनलोगों का था जिन्हें भारत के संविधान में निर्देशित नागरिकों का कर्तव्य मान्य तो था लेकिन वे सामन्ती और वर्ण-जाति व्यवस्था के उन्नायक रहे थे। वे अपने तमाम प्रयत्नों के बावजूद पूर्व ग्रसित संस्कारों से विमुक्त नहीं हो पा रहे थे।

राज्य-काल का दो दशक भी पूरे नहीं हुए थे कि झारखण्ड के लोगों को लगने लगा कि झारखण्ड, बिहार का औपनिवेशिक क्षेत्र बनते जा रहा है। उन्हें लगने लगा था कि ईस्ट इंडिया कम्पनी भारत के साधनों का उपयोग अपने और अपने देश इंगलैंड के पूँजीपतियों के लिए जिस प्रकार करती थी, उसी प्रकार बिहार के लोग झारखण्ड के साधनों का उपयोग अपने और अपने प्रान्त बिहार के लिए कर रहे थे।

इन सबका अनेक कारण हो सकते हैं लेकिन यहाँ सिर्फ कुछ प्रमुख कारणों को संक्षेप में गिनाया जा रहा है-

1. बिहार राज्य या केन्द्र के अधीन पदों पर नियोजन या नियुक्ति जिसके लिए राज्य सरकार परोक्ष या अपरोक्ष रूप से जिम्मेवार थी उन नियुक्तियों में झारखण्ड क्षेत्र के लोगों की उपेक्षा कर प्रायः सभी पदों पर बिहार तथा कुछ बाहर के लोगों को पदस्थापित किया गया। यहाँ तक कि आरक्षित पदों पर योग्य उमीदवारों की अनुपलब्धता बता कर बाहर के सामान्य वर्गों से नियुक्ति की गई। पदस्थापित पदाधिकारियों/कर्मचारियों का यहाँ के लोगों के प्रति असंवेदनशील होना तथा भेद-भाव, हठी बर्ताव कोढ़ में खुजली के समान पीड़ा दायक थी।
2. राज्य तथा केन्द्र सरकार की योजनाओं के लिए बिहार राज्य सरकार के निजी कम्पनियों, संस्थाओं तथा बाहर से आये लोगों द्वारा कनूनी तथा गैर कानूनी तौर पर यहाँ के लोगों को गाँव, घर, जमीन से विस्थापित किया जा रहा था और यह सिलसिला अभी भी जारी है।
3. गाँव तथा शहर-कस्बों में समुदायों के उपयोग में लाये जाने वाली परती जमीनों पर अनाधिकारिक तौर पर कब्जा किया जा रहा था और अभी भी हो रहा है।
4. यहाँ के लोगों द्वारा रक्षित जंगलों के बहुमूल्य वृक्षों का अंधाधुंध कटाई से एक तो यहाँ के लोगों के अधिकार का हनन किया जा रहा था, दूसरा यहाँ के लोग जिनका जीवन जंगल के फल-फूल जैसे- ढूमर, पियार, पीठोर, केंद, आम, जामुन, मंहुआ, रुगड़ा, खुँखड़ी तथा औषधियों, जड़ी-बुटी पर निर्भर था, उनकी जीविका के साधन छीने जा रहे थे। किसान जो अपने कृषि कार्यों पर निर्भर थे, उनकी कठिनाइयां बढ़ती जा रही थी। यही नहीं पर्यावरण पर भी घातक परिणाम हो रहे थे। झारखण्ड वन, पहाड़, नदी, झरनों के बिना शृंगार-विहीन प्रदेश बनता जा रहा था।
5. खदान क्षेत्रों में रहने वालों की स्थिति बद से बदतर होती जा रही थी। एक तो उनकी धरती के खजानों का उनके सामने बेरहमी से लुटा जा रहा था, दूसरा यह क्षेत्र गुंडो, लुटेरों का अड़ा बनता जा रहा था और यहाँ के लोगों को दूषित वातावरण में जीने के लिए विवश किया जा रहा था।
6. सरकार के सभी क्रियाओं में भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद, जात-पाँत आदि व्याप्त था।
7. यहाँ के लोगों के आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक सुरक्षा और विकास के संबंध में राज्य सरकार द्वारा नहीं के बराबर काम हो रहे थे। थाना-पुलिस, कोर्ट-कचहरी, न्यायालय पहुँचना यहाँ के लोगों के लिए कठिन था। एक तो यहाँ के लोग उसमें अभ्यस्त नहीं थे और दूसरा कोर्ट-थाना-पुलिस, कोर्ट-कचहरी के पचड़ों से पार पाना उनके लिए संभव नहीं था।
8. स्थानीय लोग निर्णय प्रक्रिया में कहीं नहीं थे।

इन सबों के लिए बाहर के सभी पदाधिकारियों तथा कर्मचारियों को दोषी समझना उचित नहीं होगा। इनमें अनेक पदाधिकारी और कर्मचारी ऐसे भी थे जो झारखण्ड का भला तो चाहते थे लेकिन उनकी कोई चलती नहीं थी। इनके संबंध में आगे भी उल्लेख किया गया है।

कुछ वर्षों तक झारखण्ड में अनिश्चतता की स्थिति बनी रही, लेकिन कुछ वर्षों के अन्तराल में विस्थापित परिवारों का स्वतः स्फूर्त आन्दोलन गति पकड़ने लगा। अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक संगठनों का उदय हुआ। नयी पार्टियाँ झारखण्ड के लोगों की माँगों के पक्ष में मैदान में कूद पड़ी। झारखण्ड अलग प्रान्त की माँग जोर पकड़ने लगी। इस बार के झारखण्ड आन्दोलन की खूबी थी, बड़ी संख्या में सदानों की भागीदारी।

आजादी के बाद झारखण्ड के लोक-गीतों में नयी धारा का उभार

नृत्य, गीत, संगीत झारखण्ड की जीवन रेखा मानी जाती हैं। यहाँ के लिए चलना ही नृत्य और बोलना ही गीत एवं छाती व स्वरपट ही मांदर है।

सेन गे सुसुन, कजि गे दुरंग,
तिगी थबड़ी दुमांग सड़ी - मुंडारी लोक गीत

झारखण्ड के लोक-गीतों की रचनायें प्रायः अपनी-अपनी भाषाओं और राग, लय, धुनों पर ऋतु आधारित होता है। इसकी विषय वस्तु अधिकांशतः झारखण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य, सामूहिक कार्य-कलाप, धार्मिक विश्वासों, प्रेम-प्रसंग आदि होती हैं। रचनाकार अपना दुख-दर्द की अनुभूति, प्रेम की बातें, भक्ति-भाव आदि को इन्हीं आवरणों के माध्यम से व्यक्त करता है। रचनाकार का प्रयास होता है कि अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर अपने गीतों को अधिक से अधिक भावपूर्ण तथा रोमांचित बनाए। भारत की आजादी के दो दशकों तक झारखण्ड के लोक-गीतों का स्वरूप रोमांटिक बना हुआ था।

आजादी के दो दशक बाद झारखण्ड के पारंपरिक गीतों के साथ एक नयी धारा का उभार हुआ। गीत-संगीत के रचनाकारों की कृतियों में सामाजिक संघर्षों से जुड़े मुद्दे स्पष्ट रूप से सामने आने लगे। लोक-गीतों में सामाजिक संघर्षों की जीवन्त अभिव्यक्ति वर्तमान समाज की अभिसूचि के अनुकूल थी। वास्तव में झारखण्ड के ज्वलन्त मुद्दों के प्रति लोक-गीतों के रचनाकार तथा कलाकारों की प्रतिबद्धता झारखण्डी जनता के दिलों की ही तो आवाज थी। झारखण्ड के लोक-गीतों का यथार्थ जीवन से संबंधित होना और कलाकारों की नयी धारा के प्रति प्रतिबद्धता झारखण्ड के साहित्य के इतिहास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना थी। इसे नागपुरी लोक-गीतों का रोमांटिसिज्म के स्थान पर आलोचनात्मक यथार्थवाद का शुभारंभ कहा जा सकता है। साहित्य की अन्य विधाओं के लेखकों, रचनाकारों में इसका प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। वे इसे आत्मसात करने में कोई कोताही नहीं दिखायी।

झारखण्डी साहित्य-संस्कृति में नयी धारा का उभार का सूत्रपात हठिया जगन्नाथपुर औद्योगिक क्षेत्र में हुआ। इसका सीधा संबंध औद्योगीकरण के साथ पूँजीवादी समन्ती समाज के जन्म और विकास से था। औद्योगिक विकास तथा पूँजीवादी समाज की आवश्यकतानुसार औद्योगिक नगर का विकास की जिम्मेवारी केन्द्र और बिहार राज्य सरकार तथा इनके द्वारा चयनित बोर्ड पर थी।

औद्योगिक विकास के लिए ग्यारह गाँव पूर्ण रूप से विस्थापित किये गये थे, बाईस गाँव के किसान बुरी तरह से प्रभावित हुए थे। कठिनाइयों ने अभी भी उन

किसानों का पीछा नहीं छोड़ा है। पूँजीवादी समाज के जन्म के साथ एक नया वर्ग, दबंगों, दलालों, असामाजिक तत्वों, क्रीमनलों का भी उदय हो चुका है। इसके साथ यह संभावना तो पहले से थी कि औद्योगिकरण के गाँवों के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन प्रभावित होंगे।

औद्योगिक नगर के विकास के संबंध में केन्द्र, बिहार राज्य सरकार तथा प्रबंधन की जो भी योजना तथा नीतियाँ रही हों, सच तो यह था कि उद्योग के लिए जितने गाँव उजाड़े गये थे उससे अधिक अनाधिकारिक रूप से बाहर के लोगों की बस्तियाँ और बाजार स्थापित हो गये थे। इतना ही नहीं उन्होंने कम्पनी के अनेक क्वाटरों को अपने कब्जा में ले रखा था। यह विश्वास करना कठिन है कि यह सब सरकार और प्रबंधन के बिना सहयोग के हुआ था।

औद्योगिक क्षेत्र में बाहर के लोगों का वर्चस्व कायम हो गया था। उस समय झारखण्ड क्षेत्र बिहार राज्य में सामाविष्ट था। कायदे से बाहरी-भीतरी की बात नहीं होनी चाहिये थी और एक दूसरे के सहयोग से रहना चाहिए था लेकिन यह सामन्ती और पूँजीवादी मानसिकता से ग्रसित लोगों की समझ से परे था। ऐसे लोगों के दबंगई, लूट-खसोट, घृणित कार्यों से स्थानीय लोगों का जीना हराम कर दिया है। इस समय बहुत ही विन्ताजनक परिस्थिति का उदय हुआ।

स्थानीय लोगों का आपस में मिलना तथा बात-विचार करना आम बात थी। इसी बीच सन् 1968 के 08 मई को कुछ मजदूरों ने संकल्प लिया कि “अपने आप और अपनी संस्कृति को बचाने और बढ़ाने का काम करेंगे। लोक-गीतों के माध्यम से हम अपने सामाजिक दायित्व का निर्वहण करेंगे।” कुछ लोगों के अथक प्रयास से चन्द वर्षों में ही नयी साहित्यिक प्रवृत्तियाँ नागपुरी लोक-गीतों, कविताओं में अत्यन्त जीवन्त रूप से अभिव्यक्त होने लगीं। इसके मूर्खन्य प्रतिनिधि के रूप में सर्वश्री महाबीर नायक, मुकुन्द नायक, मान सिंह महतो, मधु मंसूरी, राम सहाय महतो, क्षितीज कुमार राय, भरत नायक, सी० डी० सिंह, बालचन्द केशरी, ऐ० के० झा आदि ने झारखण्ड के सांस्कृतिक जीवन पर जबरदस्त प्रभाव डाला। इनका नाम अपने लोक-गीतों एवं कविताओं के बदौलत सदा स्वर्णाक्षरों में अंकित रहेगा। इनकी अनेक रचनायें प्रकाशित हैं।

निःसंदेह लोक-गीतों के रचनाकारों का झारखण्डी जनता के जातीय चेतना को जागृत करने तथा झारखण्ड अलग प्रान्त की मांग को लेकर होने वाले आन्दोलनों में भरपूर सहयोग रहा। अन्ततः सन् 2000 ई० में झारखण्ड को अलग राज्य का दर्जा देना पड़ा। लेकिन इसके साथ इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता था कि विशेषकर उन क्षेत्रों में जहाँ खनिज पदार्थ सहित अन्य प्राकृतिक साधन मौजूद हैं, कारपोरेट जगत् के लोग अलग प्रान्त के गठन के पक्ष में थे। अनेकों का मानना है कि

झारखण्ड छत्तीसगढ़ तथा उत्तराखण्ड के अलग राज्य के गठन में कारपोरेट घरानों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। सत्य चाहे जो भी हो, झारखण्ड के खनिज तथा अन्य प्राकृतिक सम्पदा में कारपोरेट घरानों की खुचि स्वाभाविक है।

झारखण्ड राज्य सरकार का खुचि बहुत ही सकारात्मक है। इससे यहाँ के लोगों को कितना लाभ होगा, वह तो भविष्य के गर्भ में है, लेकिन यह निश्चित है कि यहाँ के लोगों की जमीन छीनी जायगी, प्राकृतिक संसाधनों का दोहन होगा, पर्यावरण दूषित होगा, यहाँ की सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की समरसता में टूट-फूट होगी, आदि।

इस परिवर्तित परिस्थिति में यदि झारखण्डी सचेत और सजग नहीं रहे तो बीते समय में उपनिवेशिक शक्तियों द्वारा यहाँ की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को नकारते हुए जिस प्रकार झारखण्ड की पुनर्रचना का प्रयास किया गया जिसके दुष्परिणामों को झेलने के लिए आज तक झारखण्डी विवश हैं, यदि उसी तरह आज भी पुनर्रचना का प्रयास किया जाता है तो इसमें सदेह नहीं है कि झारखण्डियों का अस्तित्व और अस्मिता संकट में पड़ जायगी।

आधार ग्रंथ

एस० के० मौर्य,

भारत में जातियों की उत्पत्ति का इतिहास, प्रियदर्शी अशोक मिशन, जौनपुर,
2012.

को० अ० अंतोनोवा, नरेश बेदी

भारत का इतिहास, प्रगति प्रकाशन, दिल्ली, 1981.

कृष्ण मोहन श्रीमाली

धर्म समाज और संस्कृति, ग्रंथ शिल्पी प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2005.

बिमला चरण शर्मा,

झारखण्डः भूमि और भूमिपुत्र, झारखण्ड झरोखा, राँची, 2011.

रामदयाल मुण्डा,

आदिधर्मः भारतीय आदिवासियों की धार्मिक आस्थाएँ, झारखण्ड प्रकाशन,
राँची, 1979.

रामधारी सिंह दिनकर

संस्कृति के चार अध्याय, उदयाचल, पटना, 1956.

रामशरण शर्मा,

शूद्रों का प्राचीन इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1992.

राहुल सांकृत्यायन

दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल, इलाहाबाद, 1944.

विसेश्वर प्रसाद केशरी,

छोटानागपुर का इतिहासः कुछ सूत्र, कुछ संदर्भ, विलियम केरी स्टडी एन्ड
रिसर्च सेंटर, राँची, 1979.

विसेश्वर प्रसाद केशरी,

झारखण्ड के सदान, छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ, राँची, 1992.

सत्यभूषण योगी, शशि कुमार,

यास्कप्रणीत निघण्टु तथा निरुक्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1967.

सुवीरा जायसवाल,

वर्णजाति व्यवस्था-उद्भव प्रकार्य और रूपांतरण, ग्रंथ शिल्पी प्राइवेट
लिमिटेड, नई दिल्ली, 1992.

लेखक परिचय

नाम	- ईश्वरी प्रसाद
जन्म	- 29.12.1938, गाँव टेरो पाकलमेड़ी, बेड़ो, राँची
परिजन	- माता-फगुनी देवी, पिता- दुखी महतो, पत्नी- दुलारी देवी
शिक्षा	- मैट्रिक; बालकृष्णा उच्च विद्यालय, राँची, 1952 आई० ए०; संत जेवियर कालेज, राँची, 1954-1955 बी० ए०; संत कोलम्बस कालेज, हजारीबाग, 1956-1957
व्यवसाय	- शिक्षक; बेड़ो उच्च विद्यालय, 1958-1959, सिनी उच्च विद्यालय, 1960 पशुपालन विभाग, चाईबासा, 1961, राँची, 1962-1963 मई 1963 से एच० ई० सी०, 1992 में सहायक प्रबंधक के पद से सेवानिवृत्त

विशेष योगदान

राजनीतिक

- एच० ई० सी० ट्रेड यूनियन में सीटू और एटक का महासचिव
- अंतर्राष्ट्रीय सेमीनार, चेकोस्लोवाकिया में ट्रेड यूनियन का प्रतिनिधित्व, 1988

सामाजिक-सांस्कृतिक

- छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ की स्थापना, 1968.
- राहुल शिशु विद्यालय की स्थापना, जगरनाथपुर, 1970, वर्तमान में बिरसा शिक्षा निकेतन के नाम से संचालित,
- छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ के सचिव के रूप में 2002 तक परियोजनाओं का क्रियान्वयन
- 50 के करीब सांस्कृतिक कार्यक्रमों का आयोजन
- अंतर्राष्ट्रीय सेमीनार कला-संस्कृति, हांगकांग में झारखण्ड का प्रतिनिधित्व, 1990
- झारखण्ड में अन्य वंचित वर्ग जैसे दिव्यांगजनों, महिलाओं के लिए कार्यक्रम की शुरुआत

अभियान

- झारखण्ड जतरा, 1984
- सांप्रदायिकता विरोधी अभियान, 1988
- विस्थापन विरोधी अभियान, 1990
- झारखण्ड सांस्कृतिक अभियान, 2004

साहित्यिक

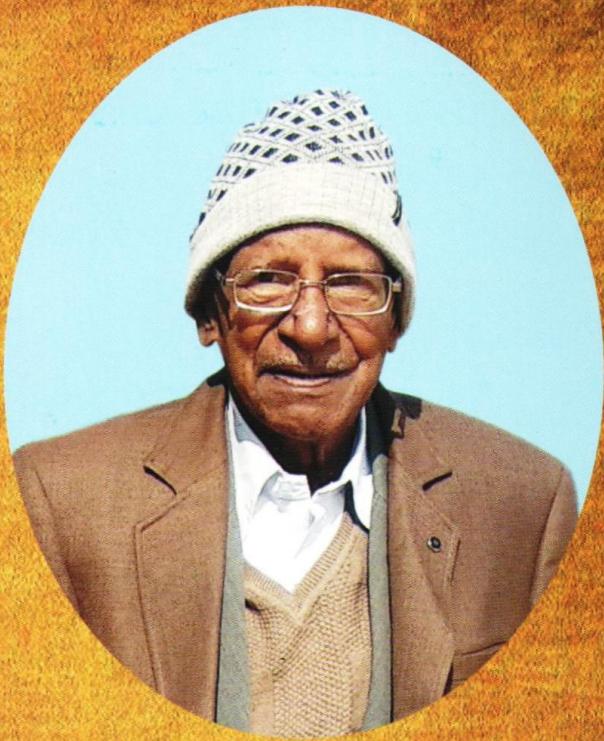
- ‘छोटानागपुर की दुर्दशा क्यूँ?’, पुस्तिका
- 16 कहानियाँ, 22 लेख
- डहर पत्रिका का प्रकाशन, शुभारंभ- 1974,
- डहर पत्रिका का संपादन, 1982 से 2002
- बदला, नागपुरी कहानी, जनजातीय एवं क्षेत्रीय भाषा विभाग, राँची विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में शामिल

सम्मान

- झारखण्ड विभूति, छोटानागपुर सांस्कृतिक संघ एवं विभिन्न सांस्कृतिक संगठन, 1999
- प्रेरणा स्रोत सम्मान, मिसी महिला महासंघ, 2007
- अखड़ा सम्मान, झारखण्डी भाषा साहित्य संस्कृति, 2012
- झारखण्ड रत्न, लोक सेवा समिति, 2017

पता

म.सं. ४ प्रगति विहार, डिबडीह, डोरण्डा, राँची
फोन: 89874 96182



PUBLISHER

JHARKHAND JHAROKHA

Shop No. D.G.03, New Building, New Market
Ratu Road, Ranchi, (Jharkhand) Pin-834001

Mob. : 09973112040, 09471160792

E-mail : jharkhandjharokha@yahoo.com



मूल्य : 120.00 रु.

